राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन

विषय—विश्व की प्रमुख ज्वलन्त समस्याओं का दार्शनिक निदान

एक समालोचनात्मक शोधपत्र संकलन

दर्शन शास्त्र विभाग

दिनांक-६, ७, ८ और ९ मार्च १९८६

भारतीय दर्शन अनुसन्धान परिषद् नई दिल्ली
(आई०सी०,पी०आर०)

एवं

विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग के सौजन्य से

निदेशक एवं सम्पादक :

डॉ० जयदेव वेदालंकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१९८७

राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन

एवं

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

का

३०वां वार्षिक अधिवेशन

६, ७, ८ और ९ मार्च १९८६

निदेशक एवं सम्पादक

डॉ० जयदेव वेदालंकार

दर्शनाचार्य, पी-एच०डी०, डी० लिट्०

रीडर-अध्यक्ष दर्शन विभाग

दर्शन शास्त्र विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

१९८७

सम्पादक मण्डल

डॉ० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता दर्शन विभाग

●

डॉ० त्रिलोकचन्द्र
प्रवक्ता दर्शन विभाग

●

डॉ० उमराव सिंह बिष्ट
प्रवक्ता दर्शन विभाग

●

अप्रैल १९८७ ईस्वी, चैत्र २०४४ विक्रमी सम्वत्

मूल्य-२० रुपये मात्र

प्रकाशक—
डॉ० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मुद्रक—ओम प्रिंटर्स एण्ड स्टेशनर्स, नीलखुदाना, ज्वालापुर (फोन ३००)

विषय सूची

पुरोवाक्

भारतीय पुनर्जागरण के दिनों में यह अनुभव किया जाने लगा था कि मानसिक दासता तथा हताशा से कुंठित नवयुवकों को भारतीय गौरव का स्मरण कराते हुए राष्ट्रवादी नवयुवकों और कन्याओं की सशक्त पीढ़ी तैयार की जाये। आदर्श राज्य अच्छे शासन पर निर्भर है; अच्छा शासन तभी हो सकता है जब उसके नागरिक अच्छे हों; नागरिक तभी अच्छे होंगे, जब उनकी शिक्षा अच्छी होगी; अच्छी शिक्षा तभी सम्भव है जब पाठ्य विषय अच्छे हों और विषय वे ही अच्छे हैं जो तन को सबल और स्वस्थ एवं मन को सुसंस्कृत और निर्भीक बनायें। दैहिक और बौद्धिक प्रकर्ष की जो बात कभी मनुष्यों ने कही थी, वैसे ही दैहिक, बौद्धिक और आत्मिक उन्नति की बात नव-जागरण के दिनों में महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में उन्होंने कहा—"इसीलिए वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपनी सन्तानों को ब्रह्मचर्य की उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ायें। स्वामी जी ने जहां गुरु-शिष्य को निकटता के लिए गुरु-शिष्य परम्परा के पुनर्स्थापन पर दिया, वहां प्राचीन तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सामजंस्य की भी आवश्यकता महसूस की। आज शिक्षा के स्तर को उन्नत करने के लिए गुरु-शिष्य के निकट सम्बन्धों की मांग जोर पकड़ने लगी है, गुरुकुल पिछले ८५ वर्षों से '-आश्रम प्रणाली" को चालू रखकर इस अवस्था का पालन करता आ रहा है और अब तो शिक्षा को राष्ट्रीय तथा सामाजिक विकास को धारा से जोड़ने के लिए अनिवार्य विस्तार सेवायें भी लागू कर दी गई हैं।

महर्षि दयानन्द के शिक्षा दर्शन को व्यावहारिक रूप देने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने १९०० में एक आन्दोलन के रूप में गुरुकुल की स्थापना

की। यह स्मरण रखने योग्य है कि गुरुकुल कांगड़ी देश के विश्वविद्यालयों में स्थापना की दृष्टि से पाँचवा विश्वविद्यालय है। पहले तीन विश्वविद्यालय १८५७ में बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता में स्थापित हुए तथा चौथा १८८७ में इलाहाबाद में खुला। १९०० में गुरुकुल की स्थापना के बाद गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने १९०५ में शान्तिनिकेतन की स्थापना की। फिर तो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, गुजरात विद्यापीठ तथा अरविन्द आश्रम जैसी राष्ट्रीय महत्व की संस्थाओं ने जन्म लिया। इन सब शिक्षा संस्थाओं का उद्देश्य भारतीय गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने वाले राष्ट्र भक्त विद्यार्थियों का नव-निर्माण करना था। अपनी स्थापना के प्रारम्भिक दिनों में परम्परित लीक से हटकर इन संस्थाओं ने नये प्रयोग भी किये और यथेष्ट सफलता भी प्राप्त की पर कालान्तर में ये विश्वविद्यालय भी अन्य विश्व-विद्यालयों की तरह पारम्परिक बन कर रह गये। इनकी सामाजिक क्रान्ति की भावना धीरे-धीरे धूमिल होती गई और पाठ्य विषयों की तोता रटन्त दीगरों में कंद होकर राष्ट्रीय विकास और सामाजिक आवश्यकता की धारा से कटती गई। राष्ट्र के सामाजिक ढांचे, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों प्रक्रियाओं और जीवनोपयोगी धारणाओं से उनका प्रत्यक्ष सरोकार नहीं रहा। शिक्षा एक किताबी उपकरण होकर रह गई।

आज जब देश गरीबी में है, विषमता है, अज्ञान और पाखण्ड है, चारित्रिक संकट है, विभाजन की शक्तियां क्रियाशील हैं, दहेज प्रथा, बाल विवाह जैसी कुरीतियाँ हैं, भ्रष्टाचार तथा भाई भतीजावाद का बोल-बाला है, शैक्षिक क्रान्ति का लक्ष्य कैसे पूरा हो सकता है ? राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलने से क्रान्ति का एक चरण पूरा हुआ। हम जैसा चाहें, राष्ट्र का निर्माण करें, इसकी स्वतन्त्रता और क्षमता प्राप्त हुई; लेकिन हमें किधर जाना है और देश को किधर ले जाना है, इसका मार्ग दर्शन विद्वानों, विचारकों और नेतृत्व सम्पन्न महानुभाव से नहीं मिला। देश में सम्पूर्ण क्रान्ति का लक्ष्य अभी कोसों दूर है। इधर सरकार द्वारा शिक्षा को अद्यतन व्यावसायपरक तथा यथार्थोन्मुख बनाने के लिये शिक्षक, शिक्षार्थी तथा शिक्षा को समुन्नत करने के लिए डा० राधाकृष्णन, तथा कोठारी कमीशनों का गठन हुआ और आयोग द्वारा संस्तुत सुझावों तथा नीतियों का आंशिक क्रियान्वयन भी हुआ पर वैसा लाभ न मिल सका जैसी अपेक्षा और आशा थी। राष्ट्रवादी शिक्षा

शास्त्रियों तथा विद्वानों को एक साथ बैठाकर इस दिशा में कुछ निर्णय लेने के लिए प्रेरित करने की आवश्यकता बराबर बनी रहो। गुरुकुल कांगड़ी ने इस दिशा में पहल की। सितम्बर ८२ में वैदिक शिक्षा राष्ट्रीय कार्यशाला का का जायोजन किया। इसमें भारत के अनेक शिक्षाविदों ने भावी शिक्षा नीति के स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त किए। इस राष्ट्रीय संगोष्ठी के उद्‌घाटन भाषण में डा० माधुरी शाह, अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, ने कहा था कि शिक्षा का उद्‌देश्य जहां अज्ञान को दूर कर विद्या का प्रचार और प्रसार करना है वहां में यह भी कहना चाहूंगो कि जो शिक्षा नतिक मूल्यों को अवहेलना करती है उसे शिक्षा की संज्ञा नहीं दो जकती।

इसके बाद सितम्बर, ८४ में दर्शन–विभाग के तत्वातधान में "मानवोय मूल्य और समाज में अन्त:सम्बन्ध" विषय पर राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसमें लगभग ५० विश्वविद्यालयों के आचार्यों ने मानवाय मूल्यों के ह्रास औ मूल्योन्मुखो शिक्षा की आवश्यकता पर अपने विचार व्यक्त किये तथा क्रियान्वयन की दिशायें सुझाई। इसी प्रकार जनवरी, ८५ में आयोजित उत्तर क्षेत्रीय कुलपति सम्मेलन में भी विद्वान् कुलपतियो तथा विश्वविद्यालयोय प्रतिनिधियों ने शिक्षा तथा आरक्षण नीति पर अपने विचार व्यक्त किए।

आज देश नयी शिक्षा नोति का प्रारम्भ करने जा रहा हे। मेरा विचार है शि प्राध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाये इससे उन्हें समाज और राष्ट्र की बुनियादो आवश्यकताओं को जानकारी मिलेगी। गुरुजन तथा विद्यार्थी यदि इन जरूरतों से परिचित न होंगे तो उनके निदान के लिए; राष्ट्रीय और सामाजिक विकास के लिए तकनोकी और वैज्ञानिक स्तर पर समाधान कैसे ढूढ़गे। सभो विकास कार्यक्रमों में सरकारी तन्त्र के साथ शिक्षक, शिक्षार्थी, स्वायत्तसेवी सस्थाय, वित्तोय सस्थान तथा जनशक्ति को समान भागीदारो होनी चाहिए। शिक्षा की समानता. साक्षरता का प्रसार, अद्यतन पाठ्‌यक्रमों का निर्माण और मानवीय हितों की रक्षा के लिये बहु-क्षेत्रीय खोज का लक्ष्य एक निर्धारित समय में पूरा करने की आवश्यकता पर बल दिया जाना चाहिए। युवाशक्ति को रचनात्मक क्षमता का पूरा-पूरा लाभ

उठाने के लिए ध्येयोन्मुखी शिक्षा को धारण से आचार्यगण का परिचित होना नितान्त आवश्यक है ।

गत वर्ष मार्च१९८६में दर्शनशास्त्र विभाग के तत्वावधान में" विश्व प्रमुख ज्वलन्त समस्याओं का दार्शनिक निदान" विषय पर राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का ३०वां वार्षिक अधिवेशन सम्पन्न हुआ था। इसमें विद्वान् प्रतिनिधियों ने शोधपत्र प्रस्तुत किये। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग ने उक्त शोध पत्रों के संकलन को प्रकाशित किया है। मैं दर्शन विभाग को इस के लिए बधाई एवं साधुवाद देता हूँ ।

प्रो० आर० सी० शर्मा
कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय

प्रो० ग्रार०सी० शर्मा
कुलपति

सम्पादकीय—

विश्व समस्याओं का दार्शनिक निदान राष्ट्रीय कान्फ्रैन्स में आज हम एक महत्वपूर्ण मानवीय समस्या का समाधान ढूंढ़ने के लिए तत्पर हुये हैं। वह समस्या किसी और की नहीं है अपितु हम सब की है। जब से मनुष्य इस धरती पर उत्पन्न हुआ है, उसने अनुभव और ज्ञान का अर्जन करते हुये प्रायः सभी क्षेत्रों में बहुत अद्भुत उन्नति की है। आज विज्ञान की उन्नति से उसे सभी प्रकार के सुखों के वरदान से मिले हैं। देश, आकाश एवं अखिल ब्रह्माण्ड की दूरी दूर हो गई है। जो फासले कभी वर्षों में तय होते थे वे घण्टों में हा जाते हैं। जो कार्य कभी हजारों व्यक्ति मिलकर किया करते थे, उन कार्यों को एक मशीन घण्टों में कर देती है। इसी प्रकार सैकड़ों वस्तुयें गिनाई जा सकती हैं जिनसे विज्ञान की कृपा से हमें चमत्कारिक लाभ हुआ है। लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि अधिक से अधिक लचकरदार बिस्तरे पर सोने, अधिक से अधिक धन होने, विश्राम वाले कूलर और अन्य सुगम साधनों के बाव जूद प्रायः रात भर निद्रा न आना, चौबीस घण्टे मन में किसी किसी न प्रकार का तनाव बने रहना, व्यापार में अपना सगा भाई भी विश्वसनीय नहीं रहा, यदि उसका वश चले तो वह कुड़की कराने की सोचता है, योरुप और यहां पर भी कहीं-कहीं पर पति और पत्नी का परस्पर विश्वास न होना, राजनीति क्षेत्र में तो कुछ भी अनैतिक कहने का साहस न होना, शिक्षक और छात्रों के सम्बन्धों में शत्रुता सी आ जाना, दफ्तरों में कहीं पर भी भ्रष्टाचार का अभाव न होना, छेड़छाड़ की समस्या आदि ऐसी समस्यायें जिनसे मानव जाति चारों ओर से घिर सी गई है।

इन समस्याओं का जनक प्रायः हम विज्ञान को मान लेते हैं मैं कम से कम इस मत को स्वीकार करने में असमर्थ हूं। क्योंकि विज्ञान अनर्थकारी

अपने आप में नहीं हो सकता हैं। ज्ञान मनुष्य की पीड़ा का हरण करता है, पीड़ा का कारण नहीं बनता है। जैसे प्रतिदिन सब्जी काटने वाला चाकू डाकू से प्राण रक्षा करने वाली बन्दूक आदि के उपयोगकर्त्ता पागल हो जायें और चाकू और बन्दूक स अपने या अपने परिवार के सदस्यों पर वार करने लगे तो उसे आप क्या कहेंगे ? ये निर्णय मैं आप सब पर छोड़ता हूं।

विज्ञान हमें बतलाता है कि किसी वस्तु का शून्यता में परिसमाप्ति या विनाश नहीं हो सकता है। जड़ तत्व अमर, शक्ति अमर है, ऊर्जा अमर प्रत्येक वस्तु अमर है । स्थूल शरोर के पीछे एक सूक्ष्म शरीर है, जो आत्मा का अधोवस्त्र हैं। स्थूल भौतिक शरीर आत्मा का वाह्य वस्त्र है। सूक्ष्म शरीर को इन्द्रियों के द्वारा नहीं देखा जा सकता है। ज्ञान की सीमा में इन्द्रियों को अपनी सीमा है।

यह ज्ञान हमें मनुष्य मात्र को करना होगा यह उत्तरदायित्व हम सब विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों का है।

अशुभ की यथार्थ सत्ता है। वह सक्रिय सिद्धान्त तथा शुभ का शत्रु है। शुभ तथा अशुभ ये दोनों सिद्धान्त मनुष्य तथा जगत् में निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। मनुष्य के अन्दर शुभ तथा अशुभ के बीजों में निरन्तर संघर्ष हो रहा है। मनुष्य परोपकारी आत्मा के समक्ष सह कर्मी तथा सहयोगी है। हमें इससे संघष अवश्य करना पड़ेगा। बिना संवर्षं के मानव जाति समाप्त हो सकती है। संघर्ष की शक्ति भी हमें इस प्रकार के आयोजनों से मिल सकती है।

इस उक्त दर्शन महासम्मेलन के आयोजन हेतु भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिपद् (आई०सी०पी०आर०) नई दिल्ली के चेयरमेन डॉ० डी०पी० चटोपाध्याय तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का विशेष आभारी हूं कि दस–दस हज़ार रुपये का अनुदान राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स हेतु प्रदान किया।

डॉ० रामजी सिंह अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् और डॉ० जे० पी० आत्रेय मन्त्री उक्त परिषद् का विशेष धन्यवाद करता हूँ कि अखिल

भारतीय दर्शन परिषद् का ३०वां अधिवेशन दर्शन विभाग के तत्वावधान में करना स्वीकार किया है।

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का विशेष आभारी हूं। आपने उक्त कान्फ्रैन्स तथा अखिल दशन परिषद् के ३०वे अधिवेशन का विधिवत् उद्घाटन किया।

दर्शन शास्त्र विभाग समस्त प्राध्यापक गण, छात्र, वेद, कला और विज्ञान महाविद्यालय के प्राध्यापकों का भी हृदय से धन्यवाद करता हूं।

अन्त में श्री कुलपति महोदय, डॉ० वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलसचिव और डॉ० श्यामनारायण सिंह का आभार प्रदर्शित करता हूं।

३०-३-१९८७

जयदेव वेदालंकार
सम्पादक
एव निदेशक

स्वागत भाषण

श्रद्धेय ग्रध्यक्ष महोदय, एवं समुपा स्थित विद्वद्वृन्द !

महान् हर्ष का विषय है कि समुन्नत हिमाद्रि की रमणीय उपत्यका में प्रतिष्टापित एवं पवित्र पुण्यसलिला भागीरथी की तरंगों से क्षालित निर्मल तट पर विराजमान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के तत्वावधान में "विश्व की प्रमुख ज्वलन्त समस्याग्रों का दार्शनिक निदान" विषय पर राष्ट्रीय महासम्मेलन एवं "ग्रखिल भारतीय दशन परिषद् का ३०वां वार्षिक ग्रधिवेशन समायोजित हो रहा है । इस पुण्यमय ग्रवसर पर मैं समस्त उपस्थित विद्वज्जनों एवं प्रतिनिधियों का हृदय से स्वागत करता हूँ । मुझे विश्वास है कि यह समायोजित ग्रधिवेशन ग्रपने निहित उद्देश्य को प्राप्त करने में ग्रवश्य ही सफल होगा ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के लिये ग्राज का दिन बड़ा गरिमामय है । क्योंकि ग्रमर बलिदानी एवं स्वतन्‍ता महारथी स्वामी श्रद्धानन्द ने इस विश्वविद्यालय की स्थापना जिन महान् लक्ष्यों को लेकर की थी उस दिशा में बढ़ने के लिये हम समवेत रूप से एकत्रित हुए हैं । स्वामी जी का उद्देश्य था कि गुरुकुल का स्नातक विद्याध्ययन करने के पश्चात् समाज में जाकर वहां विद्यमान ग्रशिक्षा, ग्रनाचार, ग्रसन्तोष कलह ईर्ष्या द्वेष ग्रादि बुराइयों का उन्मूलन करें । ग्राजीविका के लिए वह ग्रात्मनिर्भर हो । समाज पर भार न बनकर उसका उपकार करे ।

गुरुकुल की स्थापना के समय स्वामी श्रद्धानन्द जी का विचार था कि राष्ट्र को ऐसी शिक्षा की ग्रावश्यकता है जो प्राचीन ग्रौर ग्राधुनिक विषयों के साथ समाज ग्रौर राष्ट्रीय समस्याग्रों के सुलझाने में भी सहायता करे।

आज शिक्षणालयों और विश्वविद्यालयों की कमी नहीं है। फिर भी शिक्षा उक्त उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर रही है। दिन प्रतिदिन नित्य नूतन समस्यायें जन्म ले रही हैं । नैतिक मूल्य और उदात्त संस्कारों से आधुनिक शिक्षा ने जैसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया हो। विश्व की ज्वलंत समस्यायें जैसे अमरीका, देश-द्रोह, आतंकवाद, अलगाववादी प्रवृत्ति, मानसिक तनाव है. उनका समाधान ही आज के शिक्षा विदों, दार्शनिकों और अन्य विचारकों का प्रमुख लक्ष्य और दायित्व होना चाहिए।

आज प्राचीन मान्यतायें दम तोढ़ रही हैं। ऋषियों की परम्परायें उच्छिन्न होती जा रही हैं। गुरु-शिष्य का हार्दिक सम्बन्ध, राजनीति का धर्म से सम्बन्ध, सामाजिक औदार्य तथा परस्पर भ्रातृभाव आदि उन्नत विचारों का शिक्षित वर्ग से सफाया होना जा रहा है । आध्यात्मिक पर भौतिकवाद प्रभावी बनता जा रहा है। इसी कारण अनेक विकट समस्यायें समाज में स्थान बनाती जा रही हैं।

आज विज्ञान ने मानव जीवन को अधिक सुविधापूर्ण बना दिया है। वैज्ञानिक उन्नति अच्छी बात है किन्तु भौतिक सुख साधनों के साथ मन की निमलता भी तो परमाश्यक है। मानसिक पावनता के बिना विज्ञान तो क्या कुबेर की सम्पूर्ण सम्पत्ति और दिव्य ऐश्वर्य भी पृथ्वी पर सुख शान्ति नहीं ला सकते। नैतिक मूल्यों के अभाव में आज राष्ट्र भावना के ऊपर स्वार्थ और आतंकवाद प्रभावी हो गया है ।

मुझे आशा है कि सब चिन्तनशील दार्शनिक विद्वन्जन इस दिशा में विचार करेंगे और निष्कर्ष रूप में कोई ऐसा निदान और समाधान खोज निकालेंगे जिसमें इस देश की ही नहीं अपितु विश्व की समास्यायें दूर होकर सुख शान्ति की वर्षा हो । कोई दुःखी न हो, कोई अभावग्रस्त न हो, भाई भाई से द्वेष न करे। राष्ट्रों में परस्पर तालमेल हो। संकट के मेघ छंट जायें और मानव जाति एक परिवार के समान बन जाये।

यह सम्मेलन दर्शन विभाग के तत्वावधान में हो रहा है । दर्शन का अर्थ है सूक्ष्मता से निरीक्षण करना। एक दार्शनिक ही समस्याओं का निदान

खोज सकता है। मानव मूल्यों का ह्रास आज की जटिल समस्या है। इसका समाधान भारत का दार्शनिक वर्ग ही बेहतर कर सकता है।

डा०जयदेव वेदालंकार और उनके सहयोगियों ने आपके सत्कार और सुविधा के लिये दौड़-धूप की है। आप की यात्रा और निवास को सुखद बनाने के लिए हर सम्भव कोशिश रहे हैं। फिर भी यदि कुछ त्रुटि रह जाये तो उसे आप क्षमा करेंगे।

आपके आगमन से हम स्वयं को गौरवशाली अनुभाव करते हैं। सीमित साधनों के होते हुए भी यह आयोजन इसीलिए करना पड़ा है ताकि विश्व के सम्मुख जो समस्याओं का जाल बिछा हुआ है उसका कुछ तो समाधान यह कान्फ्रेन्स कर सकेगी। आपका स्वागत है। इस आयोजन को सफलता पूर्वक सम्पन्नता के लिये मेरी हार्दिक शुभ कामनायें है।

रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

उद्घाटन भाषण~~

कुलपति महोदय, मनीषी प्रतिनिधि गण एवं समुपस्थित समस्त सभ्यवृन्द !

आज बड़ा महत्वपूर्ण दिन है कि आप सब विद्वान् दार्शनिक गण विश्व की ज्वलंत समस्याओं पर विचार करने के लिए उपस्थित हुए हैं। इस अवसर पर मुझे आमन्त्रित कर जो सम्मान आपने दिया है, उससे मैं स्वयं को गारवान्वित अनुभव करता हूं। इसके लिए आपका हृदय से आभारी हूं।

जब किसी सभ्यता संस्कृति समूह या पदार्थ का विकास होता है तो उसमें हुई किसी त्रुटि के कारण विकास के साथ कुछ समस्यायें भी अनचाहे प्रकट होने लगती हैं। मानवीय सभ्यता के विकास क्रम में भो ऐसा ही हुआ था। मनुष्य ने ज्यों ज्यों विकास किया उसके साथ साथ कुछ बुराइयां भी आगयीं।

मनुष्य एक सामाजिक जीव है। समाज के साथ ही उसका हित और अहित बंधा हुआ है। मनुष्य पहले कबीलों में संगठित था, फिर बस्तियां बनाकर रहने लगा। फिर ग्रामों और नगरों का विकास हुआ। भवन, कला विद्युत, संचार साधन परिवहन के साधन बसें रेलगाड़ियों हवाई जहाज आदि उपकरणों का निर्माण हुआ। आज मनुष्य बड़े छोटे अनेक राज्यों और साम्राज्यों में विभक्त है।

साम्राज्यों के विकास तक तो मानव सभ्यता समस्याओं से अस्पृष्ट

रही। समस्याओं का प्रवेश उस समय हुआ जब धर्म की भावना ने जन्म लिया। धार्मिक भावना तो अच्छी बात है। धर्म शून्य समाज जीवित नहीं रह सकता। किन्तु धर्म के साथ धार्मिक कट्टरता ने भी जन्म लिया। धर्म का वास्तविक अर्थ समझने में भी भूल हुई। धर्म का अर्थ धारण करना है। जो धारक मूल्य हमारे जीवन को उन्नत बनायें वे ही धर्म कहलाते हैं। किन्तु इस अर्थ को भुला दिया गया। धर्म धारण करने के स्थान पर विभाजक और विखण्डक हो गया। उदाहरण के लिए अहिंसा को ही लिया जाए। कोई भी सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक हिंसा का आदेश नहीं देता। सभी अहिंसा को धर्म का मुख्य अंग मानते है। स्मृतियाँ तो "अहिंसा परमो धर्मः" कहकर उसकी सर्वोत्कृष्टता स्वीकार करती हैं। किन्तु आज हो क्या रहा है। कोई भी समाज हिंसा से आज रहित नहीं है पशु पक्षियों की हिंसा भोजन के लिए तो आज साधारण बात हो गई है। आज मनुष्य अपनी ही जाति का संहार कर रहा है। विश्व का इतिहास सामूहिक नरसंहार के दृष्टान्तों से भरा पड़ा है। भारत में ही पंजाब आसाम गुजरात की हत्यायें हिंसा का ताजा उदाहरण हैं। आज हिंसा प्रमुख समस्याओं में से एक है।

आज विश्व में भारत वर्ष ही धर्म और आध्यात्मिकता का सिर मौर कहा जाता है किन्तु यही वह देश है जहाँ आये दिन दहेज के लालची लोगों के द्वारा युवतियों को जलाकर मार दिया जाता है, धार्मिक उन्मादियों के द्वारा निर्दोष लोगों को गोलियों से भून दिया जाता है। आये दिन व्यापार राजनीति और उद्योग व्यवसाय में बड़े बड़े स्कैण्डल प्रकाश में आते रहते हैं।

इस देश को स्वतन्त्र कराने के लिये अनेक देश भक्तों ने अपना जीवन बलिदान किया। वह इस लिए कि अपने देश में अपना शासन होगा। शीघ्र और उन्नति के समान अवसर सबको सुलभ होंगे। किन्तु हम देखते हैं कि राजनीतिक और आर्थिक सुख सुविधा पर कुछ उच्चवर्गीय लोगों का ही अधिकार बना हुआ है। सत्तर करोड़ प्रजा में से दस बारह करोड़ लोगों को ही सुख सुविधा प्राप्त है। शेष साठ करोड़ लोगों से मानों उन्हें कोई लेना देना ही नहीं है। यह वितरण की महान् विकराल समस्या है।

" हम त्याग और शालीनता जो चरित्र के भूषण है उनका आज सार्व-

जनिक तिरस्कार होता है । त्याग स्थान पर पूंजीवाद तप के स्थान पर कामुकता और विलासिता तथा शालीनता के स्थान पर अविनय अभद्रता और निर्लज्जता का बोल बाला है।

मूल्यहीन समाज और राष्ट्र में बहुविध उन्नति हो ही नहीं सकती। आखिर इन समस्याओं का समाधान कहां से प्रारम्भ हो ? ऊपर से या नीचे से। मेरा विचार है कि सुधार का क्रम ऊपर से नीचे की ओर होता है। सबसे पहले शासक वर्ग ही इन समस्याओं को दूर करने के लिये सक्रिय होगा तभी कुछ हो सकता है अन्यथा नहीं । तद्यपि संकट प्रबल है फिर भी निराशा की आवश्यकता नहीं है। जहां समस्यायें होती हैं वहां समाधान भी निकट ही होता है।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आज आप विद्वज्जन इन समस्याओं का दार्शनिक निदान ढूंढने के लिए दूर-दूर से एकत्रित हुए हैं । समाधान भी निकलेगा ही। न भी निकले तो भी यह सन्तोष की बात है कि कम से कम दार्शनिक वर्ग इस दिशा में जागरूक तो है ।

विश्व की प्रमुख समस्याओं का समाधान" विषय पर राष्ट्रीय सम्मेलन एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का ३०वां अधिवेशन का समायोजन आज समय की सबसे बड़ी मांग है। मैं इसका विधिवत् उद्घाटन की घोषणा करता हूं और इसकी सफलता की हृदय से कामना करता हूं।

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
परिद्रष्टा
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार परिद्रष्टा, विश्वविद्यालय राष्ट्रीय कान्फ्रेंस में उद्घाटन भाषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सं० 8-एम०एच/86

राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली-110006
Rasttrapti Bhawan
New Deihi-110006

2 फरवरी, 1986

सन्देश

प्रिय महोदय,

आपका दिनांक 26 जनवरी 1986 का पत्र प्राप्त हुआ। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी बिश्वविद्यालय, हरिद्वार विश्व समस्याओं का दार्शनिक निदान पर राष्ट्रीय कान्फ्रेंस-6 से 9 सितम्बर, 1986 तक कर रहा है। कान्फ्रेंस की सफलता के लिये अपनी शुभ-कामनायें भेजता ।

भवदीय

ह०/
[जैलसिंह]

प्रधान मन्त्री कार्यालय
नई दिल्ली 110011
PRIME MINISTER'S OFFICE
NEW DELHI-110011

सं०10.10.86 पी०एस०पी० II

6 फरवरी, 1986

सन्देश

प्रिय महोदय,

मुझे यह जाकर खुशी है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के तत्वावधान में 6 से 9 मार्च 1986 तक एक राष्ट्रीय कान्फ्रेंस का आयोजन किया जा रहा है। मैं इस कान्फ्रेंस की सफलता के लिए अपनी शुभ-कामनायें भेजता हूं।

आपका
ह०/
राजीव गांधी

डा० बलराम जाखड़
अध्यक्ष, लोक सभा

नई दिल्ली

तिथि : 24-2-1986

सन्देश

अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के तत्वावधान में विश्व समस्याओं का दार्शनिक निदान पर राष्ट्रीय कान्फ्रेंस का आयोजन किया जा रहा है।

आज विश्व में भौतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति तथा उन्नति के साथ-साथ माननीय मूल्यों में जो गिरावट आई है उसका दिग्दर्शन हमें समाज में स्पष्टत: दिखाई देता है। अत: मैं समझता हूं कि समाज के सभी वर्गों को इस दिशा में सजग होकर, एकजुट होकर इन मूल्यों के उत्थान के लिये कोई ठोस कार्य करना तथा भावी पीढी को इस अवनति से बचाना आवश्यक हो जाता है जिससे उग्रवाद, आतंकवाद तथा छीना-झपटी समाप्त हो और उनमें नवजागरण का उदय हो।

राष्ट्रीय कान्फ्रेंस के अवसर पर शोध ग्रंथ के प्रकाशन के लिये गुरुकुल कांगड़ी को मेरी बधाई तथा शुभ-कामनायें।

ह०/-
[बलराम जाखड़]

DR. KARAN SINGH
MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

3, NAYA MARG,
CHANAKYAPURI
NEW DELHI 110021
Tel. : 375291

सन्देश

प्रिय श्री वेदालंकार,

आपके पत्र से जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय विश्व समस्याओं पर राष्ट्रीय गोष्ठी करने जा रहा है। इस अवसर पर मैं आप सबको अपनी शुभ-कामना भेजता हू।

आज के युग में आध्यात्मिक मूल्यों का ह्रास ही सबसे बड़ी आपत्ति बन गहै है। मेरा तो यह विचार है कि यदि किसी प्रकार से विघटन होता रहा तो समाज और राष्ट्र पर विपरीत असर पड़ेगा। बुद्धिजीवियों का कर्त्तव्य है कि वे इस सम्बन्ध में गम्भीर विचार करें और नैतिक मूल्यों को पुर्नस्थापना के लिए कटिबद्ध हों।

भवदीय
ह०/-
(करण सिंह)

डॉ० जयदेव वेदालंकार
निदेशक कान्फ्रेंस
गुरुकुल कांगड़ी बिश्वविद्यालय,
हरिद्वार

CHIEF MINISTER, HARYANA
CHANDIGARH.

सन्देश

हर्ष का विषय है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में ६ मार्च से ६ मार्च ८६ तक विश्वसमस्याओं पर त्रिदिवसीय राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स का आयोजन किया जा रहा है।

मानव और समाज का परस्पर गहन सम्बन्ध होता है। मानव का नैतिक और आध्यात्मिक विकास ही समाज का विकास है। आज के वैज्ञानिक युग में भौतिकतावाद के विशेष प्रभाव के कारण मानवीय मूल्य निरन्तर ह्रासोन्मुख हैं। राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स का मूल उद्देश्य इस बढ़ते हुए पतन को रोक कर मानव को उसके मूल रूप और उद्देश्य से अवगत करवाना तथा उच्च मानवीय मूल्यों का प्रचार-प्रसार करना है। आशा है कि कान्फ्रेंस इन महान् लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होगी।

समारोह की सफलता की मंगल कामना सहित

ह०/-
(भजन लाल)

माधुरी र० शाह
अध्यक्ष
CHAIRMAN

तार : यूनिग्रांट्स
GRAMS : UNIGRANTS
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
बहादुरशाह जफर मार्ग
नई दिल्ली-११०००२
UNIVERSITY GRANTS COMMISSION
BAHADUR SHAH ZAFAR MARG
NEW DELHI-110002

पत्रांक : F 2-4/86 UN

दिनांक 27 जनवरी 1986

सन्देश

प्रिय श्री वेदालंकार,

आपका दिनांक २७ दिसम्बर, १९८५ का पत्र मिला, धन्यवाद ! यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय दर्शन विभाग के तत्वावधान में राष्ट्रीय सम्मेलन ६ मार्च, १९८६ से ९ मार्च, १९८६ तक आयोजित करने जा रहा है तथा इस अवसर पर एक शोध-ग्रन्थ भी प्रकाशित किया जा रहा है। इस सम्मेलन के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने तथा शोध-ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभ-कामनायें स्वीकार करें।

आपकी,
ह०/–
(माधुरी र० शाह)

डा० जयदेव वेदालंकार
निदेशक, राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार-२४९ ४०४

प्रो० रईस अहमद
उपाध्यक्ष
VICE CHAIRMAN

तार : यूनिग्रट्स
GRAMS : U IGRANTS
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
बहादुरशाह जफर मार्ग
नई दिल्ली-११०००१
UNIVERSITY GRANTS COMMISSION
BAHADUR SHAH ZAFAR MARG
NEW DELHI-110002

पत्रांक : 1508/24-1-86

दिनांक 14 अगस्त, 1984

सन्देश

प्रिय श्री वेदालंकार,

आपका दिनांक ४ दिसम्बर, १९८५ का पत्र प्राप्त हुआ, धन्यवाद ! यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्याय, हरिद्वार दिनांक ६ मार्च १९८६ से ६ माच, १९८६ तक "विश्व समस्याओं का दार्शनिक निदान" विषय पर राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन कर रहा है। इस सम्मेलन के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभ-कामनाएं स्वीकार करें।

ह०/-
(रईस अहमद)

डा० जयदेव वेदालंकार
निदेशक, राष्ट्रीय कान्फ्रेंन्स
गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ० प्र०)

18-2-16 CHIEF MINISTER
7AMMU AND KASHMIR

सन्देश

आपका पत्र मिला। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय दर्शन विभाग के तत्वाधान में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का वार्षिक अधिवेशन एवं राष्ट्रीय महा-सम्मेलन विश्व की प्रमुख ज्वलन्त समस्याओं का दार्शनिक निदान (PHILOSOPHICAL REMEDIES OF CURRENT PROBLEMS OF THE WORLD) आगामी माह में संपन्न करने जा रहा है।

संसार भर में मनुष्य बहुत सी समस्याओं से घिरा हुआ है। इन भयंकर समस्याओं का दार्शनिक समाधान खोजने का जो आपने संकल्प लिया है, उसके लिए मेरी शुभकामनायें आपके साथ हैं।

मंगल कामना सहित !

आपका
(जी० एम० शाह)

डा० जयदेव वेदालंकार
पी०एच०डी०
रीडर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार।

राष्ट्रीय कान्फ्रैंस के यज्ञ का दृश्य ।

विश्व जीवन की समस्याएं और दर्शन

डा० एन० के० देवराज (लखनऊ)

यों तो भूलोक वासी मनुष्य का जीवन सदा ही समस्याओं से घिरा रहा है, पर आज जैसी भयावह स्थिति संभवतः इतिहास के किसी युग में नहीं रही है। आज विश्व में चारों ओर अनास्था, नैराश्य और हिंसा का वातावरण दिखाई देता है। युद्ध पहले भी होते थे पर उनका दुष्प्रभाव प्रदेश-विशेष तक सीमित रहता था। उदाहरण के लिये सीजर के अनेक सैनिक अभियानों का एशिया के महाद्वीप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, और सिकन्दर की युद्ध यात्राओं ने भी पूर्व में भारत के उत्तरी थोड़े भाग को ही प्रभावित किया। इसके विपरीत पिछले दो महायुद्धों ने सुदूर पूत्र में जापान तक और पश्चिम के समस्त राष्ट्रों के साथ अमेरिका को अछूता नहीं छोड़ा। अगले युद्ध में नाभिकीय अस्त्रों के दोतरफा प्रयोग की तो कल्पना मात्र से मानवीय मन-बुद्धि, हिरोशिमा एवं नागासाकी की छोटे से अणु द्वारा घटित विनाश लोला का स्मरण करते हुए, काँप जाती है। वर्तमान स्थिति यह है कि जहाँ रूस और अमेरिका के बीच निरन्तर तनातनी चल रही है वहाँ मध्य पूव में आये दिन फिलिस्तीन के प्रश्न को लेकर छोटा-बड़ा संघर्ष होता रहता है और ईरान तथा इराक के बीच पिछले पाँच-छह वर्षों से लड़ाई चल रही है। श्री लंका, अपने देश, फिलिपीन्स आदि में दूसरी कोटियों के हिंसात्मक फसाद चल रहे हैं।

सतही तौर पर देखने से लगता है कि वर्तमान संघर्षों की भीषणता के मूल में आधुनिक युग की वैज्ञानिक प्रगति है, वास्तविकता यह है कि सब प्रकार वैर भाव और हिंसा के बीच मनुष्य के मन होते है। वैसे मनोभावों का प्रकाशन विभिन्न युगों में अलग-अलग रूप लेता रहा है। कौटिल्य के युग में प्रतिपक्षी शासक को मारने के लिए तरह-तरह के विषों और विषकन्या का उपयोग होता था, दुर्योधन ने पांडवों की हत्या के लिए लाक्षागृह का निर्माण कराया था। और अश्वत्थामा ने चोर को भांति घुसकर सोते हुए द्रोपदी के पुत्रों की हत्या की थो। यह भी देखा नहीं किया जा सकता कि पुराने युगों में आज की अपेक्षा लोभ और शोषण कम था। राज्य के लोभ में अजातशत्रु और औरंगजेब ने अपने-अपने पिता को बन्दी बनाया था।

मनुष्यों की मनोवृत्तियों में इतिहास की पिछली दो-तीन सहस्राब्दियों में विशेष परिवर्तन हुआ है यह कहना सही नहीं जान पड़ता, भेद उन मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति के आयतन और साधनों में हुआ है। यों विज्ञान और तकनीक की अभूतपूर्व प्रगति से मानवता के सुख-साधनों का, जिनमें रेडियो, सिनेमा, दूरदर्शन और यात्रा के सुगम तरीकों का भी समावेश है, अतिशय विस्तार हुआ है। इसके बावजूद आज के व्यक्ति या समाज अधिक सन्तुष्ट, सुखी और निरापद महसूस करते हैं, यह नहीं कहा जा सकता भले ही आज हमारे असन्तोष, भय और कष्ट का स्वरूप और स्रोत बदल गये हों। प्रश्न है, इस बदले हुए माहौल में दर्शन की क्या भूमिका हो सकती है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर खोजने और पाने से पहले हमें एक खास स्थिति का और जायजा लेना होगा। आज के मनुष्य के नैतिक धार्मिक विश्वास बहुत बदल गये हैं, सम्भवत: कथित वैज्ञानिक मनोवृत्ति के प्रचार-प्रसार के कारण। यह वक्तव्य हमारे जैसे परम्पराग्रस्त या परम्परा प्रेमी देश और समाज के सदस्यों को चौंकाने वाला लग सकता है, पर सच यह है कि स्वर्ग-नरक ही नही ईश्वर और परलोक-सम्बन्धी विश्वास भी बहुत शिथिल या अप्रभावी हो गये हैं। छोटे-बड़े, राजा-प्रजा, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र आदि के परस्पर व्यवहार के पुराने आदर्श भी क्रमश: लुप्त या प्रभावहीन होते जा रहे हैं। इसके अलावा अपने देश में साम्प्रदायिकता और जातिवाद अधिकाधिक विकृत रुप धारण करते जा रहे हैं। सच यह है कि आज धर्म, जाति आदि के विभाग प्रच्छन्न रुप में आर्थिक-राजनैतिक संघर्षों का माध्यम बनते जा रहे हैं। इसका एक मतलब यह है कि हमारी मनोवृत्ति और संस्कृति क्रमश: ऐहिक सुख-सम्पत्ति, ऐश्वर्य पद आदि में सशक्त होती जा रही है। यह शायद विशेष आपत्ति की बात नहीं हैं; आपत्ति और चिन्ता की बात यह है कि जहां एक ओर जीवनस्तर और अर्थ-संचय में वृद्धि के लिए आज के अधिकांश लोग, विशेषत: अपने देश में नैतिक नियमों को तिलाँजलि देते दिखायी पड़ते है, वहां दूसरी ओर पुरानी धार्मिक आस्थाओं के क्षीण होते होते प्रभाव के कारण भी, वे किसी प्रकार के आत्म-संयम या आत्म-नियन्त्रण की आवश्यकता से बेखबर होते जा रहे हैं। यह एक मुख्य कारण है कि हमारे युग के साधन-संपन्न व्यक्ति भी सन्तुष्ट और सुखी दिखायी नहीं देते।

उक्त स्थितियों को मन में रखना जरूरी है, यदि हम दर्शन की भूमिका को ठीक-ठीक समझना चाहते हैं । इस सन्दभ में एक और बात ध्यान में रखी जानी चाहिये वह यह कि आज दर्शन या किसी के वश में नहीं हैं कि विज्ञान की प्रगति पर रोक लगाये । और नहीं तो दुनियां की सरकारें विज्ञान की प्रगति में बेहद दिलचस्पी रखती है मुख्यत: इसलिए कि विज्ञान सामरिक शक्ति का अस्त्र है । गत महायुद्ध के दौरान जर्मनी स हिटलर द्वारा निष्कासित और उसके बढते सैनिक प्रभाव से संत्रस्त अलबर्ट आइन्स्टाइन ने स्वयं अमेरिका के प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट को यह सुझाव दिया था कि वे अणुबम बनाने में पहल करे, अर्थात् जर्मनी से पहले वैसे बम का निर्माण करा लें । दर्शन पर विज्ञान का प्रभाव मुख्यत: उसकी सफल अन्वेषण-प्रणाली के माध्यम से पड़ा है । यह सर्व विदित हैं कि दर्शन के इतिहास में विभिन्न विचारकों के बीच निरन्तर मतभेद की स्थिति रही है । एक ही देश और परम्परा के चिन्तकों के बीच भी अनेकविध मत भेद रहे हैं, जबकि विभिन्न परम्पराओं के मतभेद और भी दूरगामी व गहन दिखाई पड़ते हैं । उदाहरण के लिए भारत के जैन, बौद्ध तथा हिन्दू विचारक प्रमाणों की संख्या, ईश्वर, जीव, सृष्टि, प्रलय, पुनजन्म, कर्मसिद्धान्त, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में अलग-अलग ढगं से सोचते और भिन्न-भिन्न निष्कर्षों पर पहुंचते दिखाई देते हैं दूसरी परम्पराओं के विचारक कम-सिद्धान्त, पुर्नजन्म आदि का मान्यताओं से बहुत कुछ अछूते और मोक्षवाद के प्रति उदासीन दिख पड़ते हैं । ऐसे ही मतभेद ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में भी पाये जाते हैं । पश्चिम के देशों में जब से आधुनिक विज्ञान का उदय और प्रसार हुआ है—और यहां स्मरणीय है कि विज्ञान आधुनिक सभ्यता की रीढ़ है—तब से मतभेदों से आक्रान्त दर्शन विज्ञान कीं अन्वेषण-प्रणाली से लगाया आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा लेता रहा ।

जहाँ एक ओर विज्ञान की तकनीकी उपलब्धियों ने हमारे बाह्य परिवेश और जीवन का बहुआयामी रुपान्तरण किया है । वहां उसकी अन्वेषण प्रणाली की सफलताओं ने मानवीय चिन्तन के हर क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी है । मानवीय विद्याओं के प्राय: सभी क्षेत्र विज्ञान की अन्वेषण और सिद्धान्त-निरूपण की पद्धतियों का अनुकरण अनुसरण करने के प्रयत्न में लगे रहे हैं । विज्ञान के इस प्रभाव को खत्म या कम करना भी संभव नहीं है ।

प्रश्न उठता है, ऊपर की स्थिति में दशन का क्या कार्य माना जाय और उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए, और आधुनिक सभ्यता की

विशिष्ट समस्याओं के समाधान के लिये, क्या उपयोगिता हो सकती है ? यहां यह ध्यातव्य है कि दर्शन के स्वरुप, उसकी उपयुक्त अन्वेषण पद्धति और उपयोगिता के प्रश्न भी दर्शन के ही प्रश्न हैं। वे दर्शन के प्रश्न क्या है, यह भी दार्शनिक विमर्श का ही विषय है। वास्तव में वे सब प्रश्न जो विभिन्न भौतिक, जीव-सम्बन्धी एवं मानवीय विज्ञानों या विद्याओं के बहिभूत हैं, दर्शन के प्रश्न है। विभिन्न विज्ञानों के स्वरुप और उनके तथा उनकी अन्वेषण पद्धतियों के परस्पर भेदों और सम्बन्धनों को परिभाषित-निरूपित करना भी एक सीमा तक दर्शन का ही कार्य है।

तो दर्शन का प्रथम मुख्य कार्य अपने स्वरुप और समस्याओं को निरुपित करना है। उक्त जानकारी की रोशनी में ही हम यह जान सकते हैं कि आज दर्शन हमारे लिए किन रूपों या दिशाओं में उपयोगी हो सकता है।

हम सब जानते है किस प्रकार तर्कनिष्ठ अनुभववाद ने तत्व मीमांसा का निराकरण किया है। वस्तुत: अनुभव-गम्य यथार्थ के विभिन्न क्षेत्र आज एक या दूसरे विज्ञान द्वारा अन्वेषित और व्याख्यात होते हैं। आज हम दार्शनिक से यह आशा नहीं करते कि वह हमें विद्युत् आदि ऊर्जाओं और रसायन शास्त्र के तत्वों एवं उनको पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के बारे में जानकारी दे। यही सात भूगर्भ संबन्धी, वनस्पति-जगत् और जीव जगत् के तथ्यों के लिये कही जा सकती हैं, वे सब विभिन्न विज्ञानों के शोध क्षेत्र हैं, न कि दर्शन के। विभिन्न जीवयोनियों का प्रादुर्भाव या विकास कैसे हुआ है, अथवा भौतिक विश्व अर्थात् नीहारिकाओं और नक्षत्रों की दुनिया कैसे वर्त्तमान स्थिति में पहुंची है, ये प्रश्न दर्शन के नहीं हैं। इसीलिए डिमोक्राइटस और अरस्तू के मन्तव्य अथवा वैशेषिक और सांख्य की सृष्टि-प्रक्रिया सम्बन्धी धारणाएं आज प्रासंगिक नहीं रह गयी है।

क्या दर्शन का कार्य आत्मा-परमात्मा का ज्ञान है ? यह प्रश्न मान लेता है कि आत्मा और परमात्मा की सत्ता हैं। द्रष्टव्य है कि बौद्ध-दर्शन उक्त तत्वों को स्वीकार नहीं करता। तो क्या मुक्ति या निर्वाण का निरूपण का दर्शन निजी कार्य है ? इसका उत्तर चिन्तन के एक बड़े सन्दर्भ की अपेक्षा करता है।

हम मानते हैं कि दर्शन का एकमात्र और मुख्य कार्य जीवन-मूल्यों की व्याख्या है, उन मूल्यों की जो मानव व्यक्तित्व के गुणात्मक उत्कर्ष के उपादान भूत हैं जो मूल्य वैसे उत्कर्ष के साधक होते हैं उनमें तरतम भाव (Dgerees) का अन्तर होता है। वैसे मूल्यों के अन्तर्गत सत्य या सत्यान्वेषण, शिवत्व या नैतिक-आध्यात्मिक उच्चता एवं सौन्दर्य की सृष्टि और उपभोग का समावेश है। इन मूल्यों की वाहक अनुभूतियों के स्वरुप का विश्लेषण और उनके तरतम भाव को बुद्धिगम्य बनाने वाले मानदंडों या प्रतिमानों का निरुपण दर्शन के दो प्रमुख कार्य हैं। तीसरा कार्य है व्यक्तित्व के गुणात्मक विकास में योग देने वाले मूल्य सत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध और आपेक्षित महत्व को समझने-समझाने का प्रयत्न। इस तीसरे कार्य द्वारा दर्शन हमें वह बोध देता या देने की चेष्टा करता है जिसे हम जीवन-विवेक कहते हैं।

प्लेटों की रिपब्लिक में थ्रैसाइमेकस नाम के सोफिस्टने न्यायधर्म की परिभाषा देते हुए कहा कि न्यायनीति या धर्म वह है जो शक्तिमान् व्यक्ति-मान (राजा. शासक) के हित में, उसके लिए हितकर हो। इसका प्रतिवाद करते हुए सुकरात ने कहा—लेकिन इसका निर्णय कैसे होगा कि शक्तिमान् व्यक्ति का वास्तविक हित क्या है ? विभिन्न हितों, श्रेयस-रुपों के आपेक्षित महत्व के समझ की साथ जीना सहल नहीं है। यह समझ लम्बे चिन्तन और जीवन के और समाजों तथा जातियों के, व्यापक अनुभव पर निर्भर करती है। आज इस समझ का सार्वजनिक ह्रास वर्तमान मनुष्य के असन्तोष और उससे उत्पन्न विक्षुब्ध-असन्तुलित मनःस्थिति एवं आक्रामक मनोभावों का अन्यतम कारण है। भर्तृहरि ने सुख के साधनों के बारे में कहा है, प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपयस्यति जनः—अर्थात् वैसे साधन दुःख का प्रतिकार कर करते हैं—वे भावात्मक सुख नहीं देते। विज्ञान के आविष्कार बहुत कुछ ऐसे ही साधन हैं। भावात्मक सुख के लिए उच्चतर मूल्यों में—जैसे त्याग मूलक नैतिकता. काव्यशास्त्र विनोद, सन्त चरित्र की स्वार्थों के बन्धन से युक्त रहने की साधना अर्थात् निष्कामना आदि में—संसक्ति आवश्यक है। इस प्रकार की मनोवृत्ति और जीवनचर्या के लिए प्राचीन विश्वास-पद्धतियों का स्वीकरण आवश्यक नहीं–यह इससे भी सिद्ध कि प्राचीन विचारक अलग-अलग सिद्धान्तों का आग्रह रखते पाये जाते हैं, यद्यपि तथाकथित मोक्ष की साधना को लेकर उनमें पर्याप्त मतैक्य है। यह बात चार्वाकेतर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों पर लागू होती है।

निष्कर्ष के रुप में हम कहें कि दर्शन का प्रधान और एकमात्र कार्य जीवन-मूल्यों की छानबीन है। एक समीक्षात्मक कार्य है और मूल्य-निषेधक विश्वासों का निराकरण। उदाहरण के लिए कभी-कभी कहा जाता है कि चूंकि विज्ञान ने पुराने विश्व-चित्र को खण्डित कर दिया या बदल दिया है, इसलिए उस चित्र का मानचित्र से निर्धारित या सम्बद्ध मूल्यदृष्टि भी खण्डित हो गयी। जैसा कि हमने कहा, यह कथन या तो भ्रामक है या अर्धसत्य। दूसरे विज्ञान की सीमाओं का निर्देश करते हुए दर्शन को बतलाना चाहिए कि विज्ञान की अन्वेषण-प्रणाली और निष्कर्ष किस सीमा तक मूल्यबोध में प्रासंगिक है या नहीं हैं। हमारी समझ में सत्य, अहिंसा, सहानुभूति, करुणा, सेवा आदि सद्गुणों का महत्व ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि की यथार्थता या अस्तित्वत्ता का अपेक्षी नहीं है। उन्हें आधार देने वाले युगोचित मन्तव्यों का ग्रन्थ और प्रचार भी दर्शन का कार्य है। इस प्रकार मूल्यों का पुन: परिभाषित और निरुपित करते हुए दर्शन व्यक्तिगत और सामाजिक सब प्रकार के जीवन से सम्बन्धित विवेक देता और दे सकता है। ध्यातव्य है कि यह कार्य किसी दूसरे शास्त्र या विद्या का नहीं है।

समृद्ध एवं सुखी तथा उच्चतर जीवन और तदनुरुप मूल्यों को परिभाषित करते हुए दर्शन आदर्श समाज और आदर्श राज्य की यथार्थ-परक रूपरेखा प्रस्तुत कर सकता है। उस रूपरेखा के अनुरूप समाज तथा राज्य का संघटन दूसरी कोटि के, क्रान्तिकारी प्रयत्नों की अपेक्षा करेगा। इधर ऐसा एक दर्शन देने का दावा कार्ल मार्क्स और उससे अधिक उसके कतिपय अधिक कट्टर एवं एकांगी अनुयायियों—जैसे लेनिन—ने किया है। किन्तु मार्क्स के दर्शन ईश्वर-परलोक आदि की अस्वीकृति उतनी आपत्तिजनक नहीं है जितनी कि आध्यात्मिक मूल्यों की अवहेलना। मार्क्स के दर्शन में निष्कामता, क्षुद्र एषणाओं के त्याग एवं सन्त चरित्र को अपेक्षा और महत्ता की कोई बुद्धिगम्य व्याख्या उपलब्ध नहीं है। क्यों कुछ कर्मठ बुद्धिजीवी नेता समाज में न्याय, समानता आदि की प्रतिष्ठा के लिए त्याग और कष्टों का जीवन स्वीकार करें अर्थात् नि:स्वार्थ सेवाव्रत ग्रहण करें—इस प्रश्न का समुचित समाधान मार्क्स-वाद में पाना कठिन है। इसलिए भी वह वाद अपूर्ण है। मार्क्स तथा कथित यूरोपियन (स्वप्नजीवी) समाजवाद की आलोचना करते हुए अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक समाजवाद कहता था, उसने एक इतिहास-दर्शन देने का प्रयत्न

भी किया था। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि उसकी इतिहास सम्बन्धी प्राय: सभी भविष्य वाणियां गलत सिद्ध हुई हैं। उसके इतिहास-सिद्धान्तों के अनुसार और वर्ग सम्बन्धी एवं पूंजीवाद के विश्लेषण के अनुसार भी श्रमिकों की क्रान्ति इग्लेंड, जर्मनी, अमेरिका जैसे विकसित उद्योगों वाले देशों में होनी

चाहिए थी न कि उस दृष्टि से पिछड़े रुस और चीन में जिसने मध्यम वर्ग के क्रमश: विलुप्त होने की भविष्य वाणी भी की थी। सच यह है कि मनुष्य, अनेक सीमाओं के बावजूद, एक स्वतन्त्र और सर्जनशील प्राणी है, वह अपने इतिहास और नियति का नियामक बनने की क्षमता रखता है। वैसे क्षमता का मंडन, उसमें आस्था पैदा करना भी दर्शन का कार्य है। हमारे युग के बढ़ते लोभ एवं जीवन स्तर के आग्रह को सीमित करने की युक्ति पूर्ण सिफारिश और समृद्ध, आनन्दपूर्ण व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के स्रोतों का निरुपण अर्थात् जीवन-विवेक और जीवन की सार्थकता की नयी जीवन स्थितियों के आलोक में नयी व्याख्या प्रस्तुत करना—ये सब दर्शन के सार्वकालिक कार्य हैं।

समकालीन विश्व संकट-

भारतीय दर्शन को चुनौती

क्या समकालीन विज्ञान, तर्क और तकनीकी युग में दर्शन शास्त्र का कोई स्थान नहीं हैं ? क्या हमारे समय में मानव के स्वरूप, ईश्वर आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध में किसी प्रकार के तत्वात्मक चिन्तन की आवश्यकता है ? क्या यह सत्य है कि उस अनुभववाद की उपस्थिति में, जो विधयात्मक और विश्लेषणात्मक अनुसंधान पर बल देता है, धर्म तथा रहस्यवाद का युग समाप्त नहीं हो गया ? दर्शन शास्त्र इस दृष्टि से भाषा में प्रयुक्त विश्लेषणात्मक विधि को अपना रहा है कि सम्भवतया इस से एक नई क्रांति उत्पन्न हो जायेगी। तकनीकी विद्या ने अनेक प्रकार से मानव मात्र को लाभ पहुंचाया हैं, और हमें अनेक उपचारेतर असाध्य रोगों से मुक्त किया है। वह आणविक शक्ति वैज्ञानिक अनुसधान की देन है जो एक छोटे से कल को दवाने मात्र से कुछ ही मिनटों में इस पृथ्वी से जीवन मात्र को नष्ट कर सकती है। क्या दर्शन शास्त्र इन सफलताओं की बराबरी कर कुकता है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो दार्शनिकों के सम्मुख उपस्थित हैं । दार्शनिक स्वभाव से कुछ प्रश्न खड़े करता है और फिर उन्हों प्रश्नों के अनेक प्रकार के उत्तर ढूंढने में जीवन व्यतीत कर देता है।

हाल ही में विशेष कर पश्चिम के दार्शनिकों का ध्यान आधुनिक मानव की व्यावहारिक समस्याओं और परिस्थितियों से हट कर उस भाषा के विश्लेषण में लग गया है जो दार्शनिक प्रश्नों, नैतिक समस्याओं और धार्मिक अनुभवों में प्रयुक्त की जाती हैं। भारतीय दार्शनिकों समेत पूर्वीय दार्शनिकों ने भी न केवल मुख्यतया पश्चिमी दार्शनिकों का अनुकरण किया है, बल्कि

डॉ० श्रीमती सुषमा स्नातिका वैदिक एवं सरस्वती वन्दना प्रस्तुत करते हुए ।

उन्होंने यह भ्रान्त धारणा भी प्रस्तुत की है कि जो दर्शन विश्लेषणात्मक नहीं है उसे दर्शन नहीं कहा जा सकता। उसे इतिहास, धर्म और अंधविश्वास आदि नाम इस लिये दिया जा सकता है क्योंकि तत्वविज्ञान कल्पना मात्र है, धर्म रूढ़िवाद है, "झूठ मत बोलो, हिंसा मत करो" आदि नैतिक वाक्य वैज्ञानिक दृष्टि से भावुकतापूर्ण कथन मात्र हैं।

यह सत्य है कि एक ओर तो भाषात्मक विश्लेषण ने विज्ञान, इतिहास, कला, साहित्य और धार्मिक अनुभवों के क्षेत्र में भी आलोचनात्मक दृष्टि को जन्म दिया है। किन्तु विश्लेषणात्मक दृष्टि और आलोचनात्मक मूल्याकन को दर्शन का सर्वेसर्वा मान लेना तर्क संगत नहीं होगा।

विश्लेषणात्मक दार्शनिकों के इस दृष्टिकोण ने मानव के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियां उत्पन्न कर दी हैं क्योंकि मानव केवल मात्र एक यन्त्र नहीं है। इसके विपरीत वह तर्क, भाव, संकल्प और इन तीनों के आधार उस अविनाशी तत्व का समन्वय है जो मानवीय जीवन का विशेष लक्ष्य है। केवल तर्क, भाव अथवा केवल संकल्प को ही मानव की आत्मा की एक मात्र अभिव्यक्ति मान लेना एक पक्षपाती दृष्टिकोण को प्रश्रय देना है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की आत्मा उसके सभी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं का मूलाधार है।

दर्शन शास्त्र का सम्बन्ध मानव तथा जगत् के स्वरूप और उस परम तत्व को जानना है जो प्रकृति, पुरुष तथा विश्वव्यापी मन का परम आधार है। और ऐसा होना भी चाहिए। इस प्रकार दर्शन का विषय पूर्ण सत्य है। मेरी दृष्टि में पश्चिमी दर्शन ने आरम्भ से आज तक भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में, मानव स्वरूप के सम्बन्ध में और परम तत्व के जानने में सदैव पूर्णात्मक दृष्टिकोण की अवहेलना की है। विशेष कर पश्चिम में ज्ञान के क्षेत्र को विज्ञान, धर्म और दर्शन से सर्वथा प्रथक् मान कर न ही केवल सत्य की अवहेलना की है, अपितु मानव के आन्तरिक स्वभाव के विकास और उसकी प्रकृति का दमन किया है। मैं यह बात निर्भीकता से कह सकता हूं क्योंकि यह सच्चाई मेरे १७ वर्ष के उस अनुभव पर आधारित है जो मैंने अमेरिका के विश्वविद्यालयों में पढ़ा कर प्राप्त किया है। मुझे खेद से यह

कहना पड़ रहा है कि अधिकतर भारतीय दार्शनिक और विद्वान् जिन्हें अमरीका विश्वविद्यालयों में पढ़ाने के लिए नियुक्त किया जाता है, न केवल इस सच्चाई को अभिव्यक्त करने में संकोच करते हैं, अपितु भारतीय दर्शन की विशेषता और उसके सच्चे स्वरूप को पश्चिमीय विश्वविद्यालयों में प्रस्तुत करने का भी साहस नहीं रखते। मानव का यह आंतरिक स्वरूप वह तत्व है जो भौतिक प्रकृति में निहित है और जो आधिभौतिक जगत् से सर्वथा श्रेष्ठ है। प्रकृति और चैतन्त विश्वव्यपी मन के इस अविनाशी आधार को स्वीकार करने और अनुभूत करने से ही मानव का कल्ताण हो सकता है और इसके फलस्वरूप इस पृथ्वी पर आणविक युग को सम्भावना से प्राणीमात्र के सर्वनाश को रोका जा सकता है।

मानव में प्रतिष्ठत इसी अन्तर्तम तत्व को भारतीय दर्शन में आत्मा कहा गया है। सभी मानवेतर प्राणियों में प्रारम्भिक रूप से चेतना, भाव और चेष्टा की क्रियाएं उपस्थि होती हैं, किन्तु उनका व्यवहार तक शून्य होने के कारण आत्म तत्व अविकसित रह जाता है। यही कारण है कि मानवेतर प्राणियों ने न तो विज्ञान का आविष्कार किया है, न धर्म को अपनाया है, और न किसो दर्शन को प्रतिपादित किया है। सत्य तो यह है कि मनुष्य की तर्कात्मक प्रवृत्ति आत्म तत्व पर आधारित होदे के कारण उसको प्रेम और संकल्प का अनुभव प्रदान करती है। और यह दोनों अनुभव विवेक से ही उत्पन्न होते हैं। वास्तव में ये उस आत्मा एवं ज्ञाता की उपज हैं जो मनुष्य का अन्तर्तम तत्व है। वह सभी ज्ञान जिस में एकत्व और व्यवस्था है, वह सभी भाव जो मानव को घृणा से हटा कर प्रेम की ओर प्रेरित करते हैं, और वे सभी कर्म जो उसे शिव संकल्प अभिव्यक्त करने पर प्रेरित करते हैं मानव के आत्म तत्व की ही अभिव्यक्ति हैं। आत्म और ज्ञाता की शक्वियाँ अनन्त हैं और वे दिक्-देश-काल से परे हैं। इस तथ्य को ऋषियों, दार्शनिक और सन्तों ने भारत में प्राचीन काल से लेकर आज तक अभिव्यक्त और प्रमाणित किया है। विख्यात् पश्चिमौय मनोविश्लेषण के विशेषज्ञ श्री सी. जी. युंग ने इन्हीं क्षमताओं के समूह को अचेतन कहा है। अचेतन शब्द निषेधात्मक है किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि इस अचेतन मन में चेतन तत्व की वे असीम शक्तियां इस प्रकार मौजूद है कि चेतना उस गहराई

का एक अंश मात्र है। उपनिषदों में भी 'चित् और अचित्' शब्दों का प्रयोग किया गया है। यहां पर अचित् का अर्थ चित् शून्य नहीं है, अपितु चित्‌घन है। इसो प्रकार असत् शब्द का प्रयोग भी निषेधात्मक न होकर धनात्मक है। भगवद्‌गीता में जब योगेश्वर भगवान कृष्ण ने यह कहा है कि 'सद असद चाहं अर्जुन, वहां पर यह संकेत किया जः रहा है कि मानव का अविनाशी साक्षी तत्व शून्य नहीं है, अपितु अनन्य रूप से परिपूर्ण है। हमें निःसंदेह चेतना तत्व की सराहना करनी चाहिये क्योंकि इसके क्रिया कलाप से ही हम ज्ञान, भाव और संकल्प का अनुभव करते हैं। अपितु हमें स्मरण रखना चाहिए कि चेतना तत्व आत्मा की मानसिक अभिव्यक्ति से अधिक व्यापक है।

सत्य की तर्कसंगत और पूर्ण धारणा को स्वीकार किये बिना मनुष्य केवल एक अपूर्ण व्यक्ति ही रह जाता है। वैज्ञानिक कहता है कि प्रयोग-शाला का सत्य धर्म के सत्य से विभिन्न है। गिरजाघर का पुजारी इस बात पर बल देता है कि ईश्वर वैज्ञानिक खोज से कोई सम्बन्ध नहीं रखता और वैज्ञानिक ज्ञान धर्म ग्रथ के ज्ञान से सर्वथा विभिन्न है। यह एक विचित्र बात है कि पश्चिम में सत्य की द्विमुखी धारणा को स्वीकार करके उसे आध्यात्मिक और लौकिक सत्य के भागों मै विभक्त कर दिया है। मानव को यह दोनों धारणाएं एक दूसरे से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखतीं है। हालांकि विज्ञान की अन्तिम खोज ने इस बात को स्वीकार किया है कि जीवन के विकास में, मानसिक प्रगति में और बौद्धिक उन्नति में विश्व में सर्वत्र एक ऐसी शक्ति काम कर रही है जो समरूप है और व्यवस्थित है। फिर भो बहुत से पश्चिमीय बुद्धिजोवी सत्य की द्विमुखी धारणा से चिपके हुए हैं।

उदाहरण के तौर पर हम सब जानते हैं कि सूर्य अपने सभी ग्रहों के सहित एक ऐसा व्यवस्थात्मक केन्द्र है जिसके चारों ओर पृथ्वी, मगल, वृहस्पति, शनि आदि परिक्रमा कर रहे हैं। हमारे मण्डल में यह सबसे बड़ा दृश्यमान मण्डल (Pattern) है। भौतिक जगत् में द्रव्य का सबसे छोटा नमूना परमाणु है जो हू-ब-हू सौर मण्डल का प्रतीक है और सौर

मण्डल से मिलता-जुलता है। सूर्य और परमाणु दोनों में आकर्षणात्मक केन्द्र होता है और परमाणु में उस केन्द्र के चारों ओर इलेक्ट्रान और प्रोटान (Electrons and Protons) ठीक वैसे ही परिक्रमा करते हैं जिस प्रकार ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। परमाणु मण्डल में सौर मण्डल का सूक्ष्म रूप में उपस्थित होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जगत् में सर्वत्र व्यवस्था और समरूपता से सभी तत्वों को समरूप व्यवस्थित ढंग से गतिमान् करने वाली शक्ति पूर्णतया चैतन्य और बुद्धि से ओत-प्रोत है।

इसी प्रकार जीव शास्त्र में अनुसंसन्धान ने यह प्रमाणितकर दिया है कि मानवीय शरीर के पृथक्-पृथक् अङ्ग सम्पूर्ण शरीर को बनाए रखने का काय करते हैं। शरीर के किसी भी भाग में साधारण क्षति पहुंचने पर शरीर प्रत्येक अङ्ग से उसको स्वस्थ करने की प्रक्रिया आरम्भ कर देता है। हेनरी वगसोन ने जीव-विज्ञान के क्षेत्र में अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक जीवित प्राणी के शरीर का प्रत्येक अङ्ग एक उद्देश्यात्मक व्यवस्था बनाये रखने में सहायता देता है। इन सब बातों से हम यह स्वीकार करने को बाध्य हो जाते हैं कि जीव-जगत् में एक रचनात्मक चेतन तत्व क्रियाशील और विकासशील है। इन नयी खोजों तथा विज्ञान द्वारा प्रतिपादित शाश्वत् नियमों के आधार पर प्राकृतिक घटनाओं पर नियन्त्रण किया जाना इस बात का साक्षी है कि कार्य-कारणता में समरूपता है और रचनात्मक ब्रह्माण्ड में आकस्मिकता नहीं है, अपितु उद्देश्यात्मक चतन्य तत्व ही उसका आधार है।

उच्चकोटि के वैज्ञानिक और विज्ञान के ऐतिहासिक कहते हैं कि धर्म अन्धविश्वास, रूढ़िवाद और कल्पनात्मक धारणाओं से आरम्भ होता है। उनकी यह धारणा है कि धर्म का आरम्भ भय से, भूत-प्रेत आदि में विश्वास रखने और प्रकृति में प्राणी भाव को स्वीकार करने और पितरों की पूजा करने आदि से हुआ है। उनका कहना है कि आदिम मानव सूर्य, चन्द्र, सर्प और शेरों आदि की पूजा करता था और उसे पृथ्वी के गोलाकार होने और उसकी परिक्रमा आदि के सम्बन्ध में ज्ञान नहीं था। वे इस बात को वड़े गौरव से दुहराते हैं कि धार्मिक अन्धविश्वास में जो रूढ़िवाद फैला हुआ था उसे कॉपरनिकस, गलिलियो और न्यूटन जैसे

पश्चिमीय वैज्ञानिकों ने ही दूर किया। ये पश्चिमीय आलोचक यूनानी दर्शन के पूर्व के समय के सभी प्राचीन धर्मों को भ्रमात्मक और असत्य मानते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि वर्तमान विज्ञान के सिद्धान्त वैदिक धर्म में प्रतिपादित सहस्रों वर्ष पूर्व के वैज्ञानिक सत्यों से मेल खाते हैं। वैदिक ऋषियों ने इन सत्यों को कम से कम चार हजार वर्ष पूर्व ही प्रतिपादित कर दिया था। सत्य तो यह है कि वैदिक विचारधारा प्राचीनतम होते हुए भी न केवल पृथ्वी की गति और परिक्रमा का उल्लेख करती है, अपितु उसने सौर मण्डल, आकाश-गंगा और अनेक आकाशगंगाओं की गति के वृत्तों (Orbits) का भी उल्लेख किया है।

भारतीय दर्शन में प्रतिपादित मानव की पूर्णात्मक परिभाषा को न जानते हुए, पश्चिम में जो मानव की धारणा प्रतिपादित हुई है, वह केवल बाह्यात्मक, एकांगी और पक्षपात पूर्ण है। इसके फलस्वरूप मानव को अधिकतर पश्चिमीय दार्शनिकों ने साध्य न मानकर साधन ही माना है। यह बात धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्रों में मानव अधिकारों के दमन से प्रमाणित होती है।

पश्चिम के एक विख्यात समकालीन दार्शनिक मार्टिन बूबर ने इस बात को स्वीकार किया है कि मानव-स्वरूप को बाह्य दृष्टि से प्रतिपादित करने के फलस्वरूप उसे केवल भौतिक वस्तु ही माना जा रहा है। उसने इस दृष्टिकोण को "मानव का वस्तुकरण" कहा है जिसके कारण मानव को कर्त्ता-व्यक्ति न मानकर उसे वस्तुमात्र ही समझा गया है। उसने इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए मानव के व्यवहार में वस्तु जगत् और समाज में दो प्रकार के सम्बन्धों को स्वीकार किया है। उसके विचार में मानव के व्यावहारिक क्षेत्र में केवल दो प्रकार के दृष्टिकोण एवं सम्बन्ध होते हैं। प्रथम, हमारे अहं एवं मैं का वस्तु एवं विषय से सम्बन्ध और दूसरा, हमारे अहं एवं मैं का दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध जिसे, 'मैं—तू' का सम्बन्ध कहा जाता है। पहले सम्बन्ध को हम मैं—जड़ वस्तु (I—it) और दूसरे सम्बन्ध को हम 'मैं—तू' का सम्बन्ध (I—thou) का सम्बन्ध कहते हैं।

मार्टिन बूबर के अनुसार पहले सम्बन्ध में मानव का व्यवहार बाहरी प्राकृतिक जगत् से होता है। इस सम्बन्ध में मानव उद्देश्य एवं साध्य है, जैसे भौतिक विषय एवं वस्तुएं मानव के भागने के लिए समाधान मात्र हैं। यहां पर कर्त्ता एवं अनुभव कर्त्ता मानव भौतिक पदार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ है। भौतिक पदार्थ एवं वस्तुएं सदैव साधन एवं निमित्त हा स्वीकार की जानी चाहिए।

"मैं=तू" के सम्बन्ध में मानव मानव का सामना करता है। एक अनुभवकर्त्ता दूसरे अनुभवकर्त्ता के समक्ष होता है। यह सम्बन्ध समानता एवं समकक्षता का ही है। मानव को चाहिए कि किसी दूसरे मानव को साधन या निमित्त मानकर, उसे साध्य और स्वलक्ष्य ही मानना चाहिए। "मैं और वस्तु जगत्" के सम्बन्ध के मुकाबले में "मैं—तू" के सम्बन्ध में आदान-प्रदान होता है, जबकि "मैं—जड़ वस्तु" के सम्बन्ध में प्रकृति को मानव के अधीन माना जाता है। "मैं—तू" के सम्बन्ध में एक कर्त्ता दूसरे कर्ता से एवं व्यक्ति व्यक्ति से सामना करता है, न कि व्यक्ति जड़ वस्तु से। ऐसा प्रतीत होता है कि बबूर ने कांट की भांति यह बताने की चेष्टा की है कि मानव बाह्यात्मक प्रकृति की अपेक्षा अधिक गौरवशाली है क्योंकि वह अपना लक्ष्य आप है, एवं स्वलक्ष्य है। सम्भवतया बूबर ने कांट के सिद्धान्तो में से निम्नलिखित सिद्धान्त की पुनरुक्ति की है—

'आप अपने व्यक्तित्व का, या किसी दूसरे के व्यक्तित्व को कभी भी निमित्त न मान कर स्वलक्ष्य हीं मानो।' मानव का यह गौरव एवं सम्मान अथवा प्राचीन काल से भारतीय ऋषि प्रज्ञा से स्वीकृत मानव की पूणता को मानो बूबर और कांट ने फिर से दोहराया है। हमारे कहने का अभिप्राय यह हैं कि व्यावहारिक जीवन में मानव को समझने की पश्चिमीय और कुछ पूर्वीय दृष्टियों में त्रुटि यह हैं कि हम मानव को स्वलक्ष्य न मानकर उसे निर्जीव वस्तु और साधन ही स्वीकार कर रहे हैं। जहाँ भी धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक क्षेत्रों में मानव का शोषण किया जा रहा है वहां मार्टिन बूबर का यह कहना उचित होगा कि मानव का वस्तुकरण (Thingification) किया जा रहा है।

**

विश्वशान्ति और वैदिक मूल्य

जगत् को चलित करते हैं उसी प्रकार ऋत भौतिक और अतिभौतिक दोनों को ही चलित करता है । वस्तुत: भौतिक नियम ऋत को ही अवर अभिव्यक्ति हैं । जिस प्रकार भौतिक नियमों का अनुपालन भौतिक व्यवस्थाओं को दूर करता है उसी प्रकार ऋत का अनुध्यान भौतिक के साथ-साथ आध्यात्मिक अव्यवस्थाओं का निराकरण करता है । ऋग्वेद का स्पष्ट कथन है कि ऋत का ध्यान पुष्कर्मों का नाश करता है—

ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति । ऋ० IV २३. ८.

जिस प्रकार सूखी लकड़ी से अग्नि प्रज्वलित हो जाता है उसी प्रकार जड़ तत्व में से जीवन तत्व स्फुरित हो गया है । अत: ऋग्वेद का निर्देश है कि स्पर्धा करते हुए सभी लोग अपने सत्कर्मों के द्वारा अमृतत्व स्वरूप देवत्व को प्राप्त कर—

आदित् ते विश्वे क्रतुं जुषन्त शुष्काद् यद् देव जीवो जनिष्ठा ।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतत्वमेवैः ॥ ऋ० I ६८. २

वेद के अनुसार मनुष्य प्रकट रूप से जल और पृथिवी जैसे भौतिक तत्वों के संयोग से बना हुआ है किन्तु वस्तुत: उसका मूल विश्वकर्मा में निहित है तथा त्वष्टा उसे सूप प्रदान करता है । इसी नाते मरण शीलता के बावजूद भी मनुष्य के सामने अमृत स्वरूप देवत्व संभाव्यता के रूप में विद्यमान है—

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाश्च विश्वकर्मणः समवर्ततताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥

शु० य० ३१. १७

इस प्रकार ऋृत की व्यवस्था का अनुपालन करते हुए मर्त्यत्व से अमृतत्व की ओर प्रयाण समग्र वैदिक ज़ीवन-दर्शन का निचोड़ है। यहां मनुष्य अपनी मरण शीलता के प्रति इतना जागरूक है कि वह अपने को सीधे 'मर्त्य' शब्द से सम्बोधित करता है। इस सम्बोधन का प्रयोजन आत्मभर्त्सना नहीं प्रत्युत आत्मोत्क्रमण की आवश्यकता के प्रति सतत् जागरूक रहना है। इसके विपरीत देवताओं को 'अमर्त्य' कहता है जो उसके कुछ हद तक आदर्श हैं। किन्तु उसका चरम आदर्श है वैश्व तथा सर्वातिशायी पुरुष जो आदित्य वर्ण और तम से परे है। उसी को जानकर मर्त्य मृत्यु से परे जा सकता है, निर्गमन का कोई मार्ग नहीं है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस: परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

शु० य० ४१/१८

किन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैदिक ऋषि किसी प्रकार जीवन तथा समाज से पलायन करने की बात सोचता है। वस्तुत: वह जीवन को साधन बनाकर इसके माध्यम से इसके परे स्थित चैतन्य, ज्ञान, अमृत एवं आनन्द तत्व को प्राप्त करने का अभिलाषी है। उस परम तत्व को प्राप्ति का माध्यम होने के नाते जीवन उसके लिए अतीव स्पृहणीय है। अत: वह उसे भरपूर जीना चाहता है। "हम सौ वर्षों तक देखें, सौ वर्षों तक जीयें" यह उसकी महती आकांक्षा है—

पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शतम्। ऋ VII. ६६. १६

इस निमित्त वह मरुत्पिता रुद्र से प्रार्थना करता है कि वे उसे सूर्य-दर्शन से पृथक् न करें और अपनी शान्तिदायिनी औषधियां देकर उसे सौ वर्षों तक जीवित रहने योग्य बनायें—

आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा न: सूर्यस्य संदृशो युयोथा। ऋ० II.३.३।
त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभि: शतं हिमा अशीय भेषजेभि: ॥

ऋ० II. ३३.२।

समग्र जीवन को कौन कहे, यहाँ तक कि वृद्धावस्था से भी वैदिक ऋषि को जुगुप्सा नहीं है। वह तो लम्बी अवधि तक देखते हुए, पदार्थों का भोग करते हुये वृद्धावस्था को उसी प्रकार प्राप्त करना चाहता है जिस प्रकार दिन भर काम करने वाला व्यक्ति सायंकाल अपने घर को प्राप्त करना चाहता है—

उत पश्यन्नश्नुवन्दोर्घमायुरस्तमिवेज्जरिमाणां जबम्याम् ॥
ऋ० I. १६६. २५.

इस आकांक्षित लम्बी जीवन-अवधि को भी वह पूरी तरह सक्रिय रूप में बिताना चाहता है। यजुर्वेद का कहना है कि इस संसार में कार्य करते हुए ही सौ वर्षों तक जीवित रहना चाहिए। ऐसा करने से न केवल व्यक्ति का जीवन बाधाओं से रहित होता है अपितु व्यक्ति में कर्म लिप्त नहीं होता—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ वा० सं० ४०. २.

स्वयं ऋग्वेद का कथन है कि परिश्रम करने वालों की रक्षा देवता करते हैं—

न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः। ऋ० I, १७९. ३.

तथा परिश्रम के बिना देवताओं की मित्रता नहीं प्राप्त की जा सकती—

न ऋते श्रान्तस्य सख्यायदेवाः। ऋ० IV. ३३. ११

क्रियाशील तभी रहा जा सकता है जबकि व्यक्ति पूरी तरह जागरूक हो। शयन मयुष्य को बहुत ही प्रिय होता है। वह एक अकर्मण्यता की स्थिति है जिसमें वह अपने जीवन का अधिक से अधिक भाग बिताना चाहता है। किन्तु आवश्यकता से अधिक जो क्षण शयन में बिताये जाते हैं वे न केवल सवथा निरर्थक जाते हैं अपितु व्यक्ति की क्षमता में अपकर्ष लाते हैं। यहां तक कि जाग्रत अवस्था में भी हमारे मस्तिष्क का एक बड़ा भाग शयन करता है। यदि हम अधिक से अधिक समय तक अपने मस्तिष्क के बड़े से बड़े भाग को जागरूक रख सकें तो हमारी ज्ञान और क्रिया शक्ति में अप्रत्याशित

वृद्धि हो सकती है। इसलिये ऋग्वेद में कहा गया है कि जो जाग्रत रहता है उसकी कामना ऋचायें करती हैं, जो जाग्रत रहता है उसके पास साम जाते हैं, जो जाग्रत रहता है उससे सोम कहता है कि मैं पूरो तरह तुम्हारो मित्रता में आ गया हूँ—

> यो जागार तमृचः कामयन्ते
> यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
> यो जागार तमयं सोम आह
> तवाहमास्मि सख्ये न्योकाः ॥ ऋ० V. ४४. १४

महर्षि वसिष्ठ ने एक मन्त्र मैं और स्पष्टता के साथ कहा है कि देवता सोम सेवन करने वाले को चाहते हैं शयन करने वाले को नहीं—

> इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति । ऋ० VIII २. ८

इस क्रियाशीलता और जागरूकता के पोछे वैयक्तिकता से ऊपर उठकर एक प्रशस्त सामाजिकता का भी भाव निहित है। इसके द्वारा व्यक्वि न केवल अपने को अपितु पूरे समाज को लाभान्वित करना चाहता है । व्यष्टि का प्रसन्नता समष्टि को प्रसन्नता के सापेक्ष हैं। ऋग्वेद का कहना है कि उस अज्ञानी व्यक्ति का अन्न प्राप्त करना निरर्थक है तथा इसो प्राप्ति में उसके जोवन का पर्यवसान निहित है जो न तो देवता को प्रदान करता है न मित्र को; केवल अपने अपने आप भोग करने वाला व्यक्ति पापभाक् होता है- -

> मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्य ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
> नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥
>
> ऋ० X. ११७. ६

इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने घर में अतिथियों को सुस्वादु भोजन कराता है, सुखद आश्रय प्रदान करता है तथा जीवन-याग का यजन करता है वह साक्षात् देव-तुल्य है—

स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज् ।
जीवयाजं यजते सोपमा दिवः ।। ऋ० I. ३१. १५

इस स्वार्थातिशाची जीवन यज्ञ का जो वृहत्तर वैश्य परिणाम संभावित किया गया है वह कितना उदात्त है तथा आणविक युद्ध की विभीषिका उपस्थित करने वाले उद्यतन जीवन-मूल्य निर्धारक विज्ञानविद् के आदर्श से कितना भिन्न ! यहाँ आशा की गई है कि हवायें हमारे लिये मधुमयी होकर गतिशील हों, नदियां मधुमयी होकर प्रवाहित हों, औषधियां मधुमिश्रित हों, रात्रि और उषा काल मधुमय हो, द्युलोक मधुमय हो, वनस्पतियाँ मधुमयी हों, सूय मधुमय हो, गायें मधुमयी हों, पृथिवी का धूलिकण तक मधुसिक्त हो—

मधु वाता ऋतान्यते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्न सन्त्वोषधीः ।।
मधु नक्तमोषासो मधुमत् पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ।।
मधुमान्नो वनस्पति मंधुमां अस्तु सूर्यः ।
माध्वी र्गावी भवन्तु नः ।। ऋ० I. ९०. ६. ८.

मधु वेद में माधुर्य को लक्षित करने के साथ साथ सार्वभौम सामंजस्य को प्रतिकायित करता है । छान्दोग्य उपनिषद् में पिता आरुणि पुत्र श्वेतकेतु को सभी विद्याओं की एकसूत्रात्मकता का रहस्य समझाते हुए अनेक अन्य उदाहरणों के मध्य मधु-निर्माण की प्रक्रिया को भी उदाहृत करते हैं। वे बतलाते हैं कि किस प्रकार मधुमक्खियां अनेक प्रकार की औषधियों और वनस्पतियों से रस चुन चुन कर लाती हैं जो स्वभावतः खट्टे, मीठे, तिक्त, कषाय आदि होते हैं; वे रसों को इस प्रकार से मिश्रित करती हैं कि सभी एकीभूत हो जाते हैं । इस आश्चर्यजनक परिणाम का कारण है मधुमक्खी की समन्वयकारिणी वृत्ति । यदि मन की एक वृत्ति के द्वारा मधुमक्खी जैसा एक नगण्य पतङ्ग इतना बड़ा परिणाम ला सकता है तो समग्र विश्व के रेत्ता-सूत्र को अपनी आत्मा में ग्रहण करने वाला मानव जैसा सशक्त प्राणी इस जगत् को कितना मधुमय बना सकता है यह अनुमेय है । किन्तु आवश्यकता

इस वात की है कि इस सत्ता–सूत्र का लोगों के निबन्धन, बतवत् शासन तथा निर्मम शोषण में दुरुपयोग न करके समग्र प्राणिवर्ग को अपनी अन्तरात्मा में देखने एवं समग्र प्राणीवर्ग के भीतर अपनी अन्तरात्मा के देखने में लगाये। ऐसा करने से व्यक्ति के मस्तिष्क में ऐसी कोई विचिकित्सा नहीं होगी जिसकी चिकित्सा कराने के लिए अद्यतन मनुष्य को मनोवैज्ञानिक की शरण लेनी पड़ती है—

यस्तु सर्वाणी भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ शु० य० ४०.६

ज्ञान के बल पर जिस व्यक्ति के द्वारा समग्र प्राणीवर्ग आत्मभूत कर लिया जाता है उस एकत्व द्रष्टा के लिए जीवन में न काई मोह होता है न शोक—

यस्मिन्त्सर्वाणी भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ शु० य० ४०.७

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि का दृष्टिकोण अद्यतन जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में एकदम नकारात्मक नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि आत्यान्तिक सत् के साथ ऋत को स्वीकार करके उसने प्रगतिशील जीवन को पूर्णरूपेण अंगीकार किया है। सृष्टि का प्रगतिशील अंश किसी भी प्रकार सत् से भिन्न नहीं है। यदि आत्यन्तिक वत् चतुष्पाद पुरुष के रूप में कल्पित होता है तो सृष्टि उसके एक पाद का रूप दी जाती है। पुरुष न केवल सृष्टि का भूत है अपितु वर्तमान और भविष्य भो है। अतः वेद की दृष्टि में संसार सर्वथा वास्तविक है तथा अपने सभी प्रकार के जीवन मूल्यों में स्वीकार्य है। किन्तु निरे प्रगतिपरक मूल्य अस्थायी हैं तथा जीवन को अस्थायी बनाने वाले हैं। एकदम उन्हीं को आदर्श मानकर चलने से समाज में कभी स्थैर्य नहीं आ सकता तथा मानव जीवन का मर्त्यत्व समाप्त नहीं हो सकता। यदि मानव जीवन और इतिहास को सुखमय और चिरस्थायी बनाना है तो प्रगति परक मूल्यों के साथ-साथ शाश्वत मूल्यों को अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में उतारना आवश्यक है।

इन्हीं शाश्वत मूल्यों का अनुपालन करने के कारण भारतीय संस्कृति विश्व में नाना सांस्कृतिक उथल-पुथल के मध्य आज भी न केवल जीवित है अपितु सशक्ततर होती चली जा रही है। नव-नव वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ जहां अन्य धर्मपरक संस्कृतियां धूमिल सी पड़ती जा रही हैं तथा अपने अस्तित्व के संकट का आभास करते हुए अपने को रूढ़ियों से जकड़ती जा रही हैं वहां वैदिक संस्कृति परिपुष्ट और पुलकित होती जा रही है। नये से नये वैज्ञानिक आविष्कार के आधार स्वरूप मौलिक विचार वेदों में उपलब्ध होने जा रहे हैं। क्या पृथिवी की उत्पत्ति का काल, क्या तारों और सूर्य के निर्माण की प्रक्रिया, क्या पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर विकास का सिद्धान्त, क्या परमाणु में ब्रह्माण्ड की संभावना, क्या मानवीय आध्यात्म की अतल गहराई का सिद्धान्त, क्या प्रकृति के संयत्र उपभोग तथा पर्यावरण की शुद्धि का सिद्धान्त---आधुनिक विज्ञान के सभी सिद्धान्त वेद में यत्र-तत्र अन्तर्हित मिलते हैं। इसका तात्पय यह नहीं है कि ऐसी स्थिति में हम अपने भावी वैज्ञानिक आविष्कारों की आशा विज्ञान एवं वैज्ञानिकों के बदले वेदों एवं वेदपाठियों से करने लगे। भौतिक विज्ञान सम्बन्धी आविष्कार यान्त्रिक विकास की अपेक्षा रखते हैं जो वस्तुत: आज के विज्ञान की देन है। वैदिक ऋषियों की अन्वीक्षा तो आध्यात्मिक थी जो अन्ततोगत्वा सभी प्रकार के मौलिक वैज्ञानिक आविष्कारों का भी उत्स है। अत: उस उत्स में परिनिष्ठित वैदिक ऋषियों के द्वारा स्थापित जीवन-मूल्य निश्चित ही उन वैज्ञानिकों के विचारों से आकलित जीवन-मूल्यों की अपेक्षा अत्यधिक समन्वित और चिरस्थायी होंगे जो अहंकार से प्रेरित होकर तात्कालिकयश की कामनावश अपने द्वारा अन्विष्ट आंशिक अर्धसत्यों को पूण एवं आत्यन्तिक सत्य के रूप में प्रदर्शित करने की आतुरता में नित्य प्रति नये–नये जीवन मूल्यों की उद्भावना में निरत है। जीवन अपने आप में एक पूर्ण वास्तविकता है। अत: इसके आधारभूत सत्य को भी पूर्ण एवं समन्वित होना चाहिये। उसी सत्य से निस्सृत जीवन मूल्य हमें शाश्वतिकत्व प्रदान कर सकते हैं। आँशिक अर्धसत्यों पर आश्रित जीवन-मूल्य आनुषगिक रूप में ग्राह्य होते हुये भी शाश्वत नहीं हो सकते। इनका शाश्वत जीवन-मूल्यों के साथ संश्लेष इस धरा पर मानव जीवन के स्थायित्व के लिये सबसे बड़ी आवश्यकता है।

—❀—

मानवीय मूल्यों का आधार

मानवतावादी सिद्धान्त का दावा उचित प्रतीत होता है कि नैतिकता केवल मानवीय स्तर पर ही प्रासंगिक और जीवित रहती है। और मानवेतर तथ्य यदि ऐसे तथ्य हों तो, नैतिकता के आधार नहीं बन सकते। यह आभास कि ईश्वरवादी सिद्धान्त नैतिकता को अधिक ठोस आधार प्रदान करता है, बहुत सही नहीं है। दैवी व्यक्तिगत नैतिक प्रश्नों से परे हैं, क्योंकि उसके लिए उचित-अनुचित, शुभ–अशुभ से संघर्ष और संकट है ही नहीं। नैतिक मानदंडों की आवश्यकता तो मनुष्यों के ही लिये हैं जो लगातार स्वार्थ-परार्थ, भावना-बुद्धि, न्याय-अन्याय के संघर्षों का अनुभव करते हैं और जिनके लिये सामाजिक व्यवस्था का प्रश्न अनिवार्य है। मानवतावादी सिद्धान्त का यह विचार भी संगत प्रतीत होता है कि यदि मानवीय सम्बन्ध जिन्हें हम लगातार जीते हैं और जिनमें हमारा, बौद्धिक-भावात्मक जीवन पिरोया हुआ है, हमें नैतिकता के लिए प्ररित करने में सक्षम नहीं है तो किसी कल्पित पराप्राकृतिक शक्ति के आधार पर यह प्रेरण उत्पन्न करने की आशा व्यर्थ होगी। यहां यह प्रश्न भी उठता है कि जिन नैतिक आदेशों को हम ईश्वर से निसृत मानते हैं उन्हें ईश्वर इसलिये आदेशित करता है कि वह नियम नैतिक है; चूंकि वह उन्हें आदेशित करता है, इसलिये वह नियम नैतिक है। यदि हम प्रथम विकल्प मानें तो ईश्वरीय आदेशों का चुनाव स्वयं स्वतन्त्र नैतिक मूल्यों की स्थापना पर आधारित होगा और इसलिये मूल्यात्मकता का आधार ईश्वर स्वयं नहीं होगा। यदि हम दूसरा विकल्प मानें तो हमारा पहले उठाया गया प्रश्न उठेगा कि मात्र आदेशित होने से कोई भी नियम नैतिक कैसे हो जायेगा। यदि हमारा पूर्वोक्त विचार सही है कि नैतिकता का उद्देश्य सीमित संवेदनाओं और सहानुभूतियों वाले मनुष्यों की स्वार्थी होड़ को सीमित करके सामाजिक व्यवस्था करना और सामाजिक

अन्तः सम्बन्धों को स्वस्थ बनाना है, तो मात्र आदेशित होने से कोई भी नियम नैतिक नहीं हो सकता।

इसके अलावा चूंकि ईश्वर का अस्तित्व एवं रूप दोनों ही दार्शनिक रुप से विवादास्पद हैं, नैतिकता को ईश्वरवादी आधारों पर स्थापित करने से स्वयं नैतिकता विवादास्पद और संदिग्ध हो जायेगी। ईश्वर—अस्तित्व का प्रश्न मात्र विश्वास से तय नहीं किया जा सकता, क्योंकि अस्तित्व सूचक कोई भी प्रश्न मात्र विश्वास या श्रद्धा का प्रश्न नहीं होता। ईश्वर में सर्वोच्च गुण माने जाते हैं और इस कारण ईश्वर को मूल्यों के अन्तिम आधार के रुप में मानने से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हमने नैतिकता को सर्वोच्च प्रमाण दे दिया है। परन्तु संदिग्ध और सम्भवतः अस्तित्वहीन आधार, चाहे उसकी कल्पना कितनी ही पूर्ण हो नैतिकता को कोई अतिरिक्त शक्ति नहीं दे सकता।

ऐसी आपत्तियों के उत्तर में बहुधा यह कहा जाता है कि नैतिकता की स्थापना के लिये यदि काल्पनिक आधारों का सहारा लिया जाये तो कोई दोष नहीं है और ईश्वर-भय ही नैतिकता का सबसे अधिक सक्षम साधन है। परन्तु ऐसा मानने पर तो नैतिकता का हनन ही हो जायेगा क्योंकि नैतिकता के मूल में भय नहीं अपितु विश्वास, साहस और विवेक होते हैं। हम किसी भी आचरण पर नैतिकता-अनैतिकता के निर्णय दे सकें इसके लिये यह जरुरी है कि वह आचरण कर्त्ता ने स्वेच्छा से चुना और किया हो। यदि भय के दबाव में वह कार्य किया गया है तो वह नैतिक कदापि नहीं हो सकता।

ईश्वरवादी नीतिशास्त्र के लिये और एक समस्या उठती है जिस पर हमें विषद दार्शनिक विवेचनाएं मिलती है यह समस्या है ईश्वर के नीति-निर्धारक स्वरूप और संसार के कुछ वास्तविक तथ्यों के बीच विरोध की स्थिति। इस पूरी बहस के सूक्ष्म दार्शनिक पहलुओं पर यहां उपलब्ध थोड़े समय में पूरी विवेचना करना संभव नहीं होगा। परन्तु संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि ईश्वर के नीति-निर्धारक स्वरूप में उसे सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्व श्रेष्ठ माना गया है। सर्वज्ञता के कारण ईश्वर को अनन्त

भविष्य का भी ज्ञान होगा ऐसा माना जाता है और सर्व श्रेष्ठता के कारण उसमें विवेक, दयालुता शुभ संकल्प आदि माने जाते हैं । इन दोनों विशेषताओं के होने पर ईश्वर किसी भी अशुभ के निराकरण की इच्छा रखेगा और ऐसी चेष्टा करेगा। चूंकि वह सर्व शक्तिमान है, उसकी चेष्टायें कभी असफल नहीं होगी। इन सभी का निष्कष यह निकलता है कि ईश्वर के होते हुए संसार में कोई अशुभ नहीं हो सकता। परन्तु संसार की वास्तविकता इस के एकदम विपरीत है । कर्मवाद और मनुष्यों के संकल्प-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्तों से इस विरोध को दूर करने की चेष्टा दार्शनिकों ने की है । परन्तु इन प्रयासों में वह केवल समस्या को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखने में ही सफल हो पाते हैं, समस्या का पूण निराकरण नहीं हो पाता। कर्मवाद आज के अशुभ की व्याख्या पिछले अशुभ से करते हैं और इस प्रकार अशुभ कार्यों या वस्तुओं की अनन्त श्रंखला मानने को बाध्य होते हैं। परन्तु यह समस्या फिर भी बनी रहती है कि ईश्वर के होते हुए कभी भी कोई अशुभ कैसे घटित हो पाया । मनुष्यों के संकल्प स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त भी समस्या का पूरा समाधान नहीं देता क्योंकि असीमित, निरंकुश स्वातन्त्र्य तो यों भी मनुष्यों में नहीं है; ईश्वर ने मनुष्य को सीमित स्वातन्त्र्य ही दिया है। प्रश्न है स्वातत्र्य की सीमाओं की दिशा का। सवज्ञ, सवशक्तिमान और सर्व श्रेष्ठ ईश्वर के स्वातन्त्र्य की सीमायें इस प्रकार भी बाँध सकता था कि अशुभ का कम से कम वह रूप और वह मात्रा संसार में कभी न आ पाती जो हम वस्तुतः पाते हैं।

ऐसे ईश्वरवादी सिद्धान्तों में, जो पूरी तरह नियतवादी व्यवस्था मानते हैं, और बड़ी कठिनाईयां उत्पन्न होती हैं पूर्ण नियतवादी व्यवस्था में, जहां पर तथ्य और कर्म ईश्वर की पूर्ण नियत योजना से ही बंधा है, अशुभ की व्याख्या और भी कठिन हो जाती है। क्योंकि तब समस्त अशुभ की सीधी जिम्मेदारी ईश्वर पर ही आ जाती है। यह कहना कि मनुष्यों को जो अशुभ प्रतीत होता है वह ईश्वर के दृष्टिकोण से अशुभ नहीं है, ईश्वर और मनुष्य के बीच का अन्तराल और भी बढ़ा देता है और जहां तक मनुष्यों के अपने न तक प्रश्न हैं, उनके लिये यह स्थिति ईश्वर को और भी अप्रासंगिक बना देती है। ऐसी स्थिति में नैतिकता को देवत्व में आधार मिलने के बजाय इसका

डॉ० वीरेन्द्र अरोड़ा कुलसचिव महोदय, मान्य कुलाधिपति डॉ० सत्यकेतु का स्वागत कर रहे हैं।

आधार समाप्त ही हो जाता है। इसके दार्शनिक परिणामों की उपेक्षा कर भी दें तो व्यावहारिक परिणाम अत्यधिक हानिकारक होंगे। क्योंकि इस तरह की नियतवादी व्यवस्था में एक तो अच्छे-बुरे के भेद का कोई विवेक न होगा। और दूसरे जो अशुभ प्रतीत होता है उसकी हमारे लिये अनिवार्यता और अपरिहार्यता होगी। ऐसी दशा में दुःख, अन्याय, आदि के विरुद्ध किसी भी संघर्ष की क्या स्थिति होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है।

इन सभी कठिनाईयों का मूल यही प्रतीत होता है कि मानवीय सामाजिक अन्त; सम्बन्धों को, मात्र जिनमें नतिकता के सूत्र मिल सकते हैं नैतिकता की खोज अन्यत्र किसी ऐसे संदर्भ में की जा रही है जो वस्तुतः नैतिकता के लिये अप्रासंगिक है। ऐसी खोज में दिशाभ्रम हो तो आश्चर्य नहीं।

—❀—

श्री अरविन्द और मानव एकता

डा० रामनाथ शर्मा, डी० फिल०, डी०लिट०
अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश, दर्शन परिषद्

राष्ट्रों का विकास और समस्त मानव प्राणियों की एकता ये दोनों ही समान सिद्धान्तों के आधार पर विकसित होते हैं। आज संसार में सब कहीं मानव एकता की बात कही जाने लगी है। इसकी संभावना और प्रणालो पता लगाने के लिये श्री अरविन्द ने पहले यह विश्लेषण किया है कि मानव समुदाय राष्ट्र कैसे बनें, इसमें कौन-कौन सी कठिनाइयां आयीं, किन-किन विधियों से काम लिया गया, कौन-कौन सी अवस्थाओं से गुजरना पड़ा और वर्तमान समय में इसकी क्या स्थिति हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मानव एकता का आदर्श" के प्रथम भाग में श्री अरविन्द ने यह विवेचना किया है क्योंकि उनके अनुसार जो सिद्धान्त राष्ट्र के निर्माण में काम करते रहे हैं, उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आगे चलकर मानव एकता का निर्माण किया जा सकता है। जो समुदाय, समूह या इकाइयां कृत्रिम रूप में अथवा किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये बनाये गये हैं उनका प्रयोजन पूरा हो जाने पर उन्हें छोड़ा जा सकता है और बहुधा वे स्वयं समाप्त हो जाते हैं। किन्तु यह बात उन मानव समुदायों के बारे में लागू नहीं हो सकती जो प्राकृतिक हैं जैसे परिवार और राष्ट्र। परिवार को तो अधिकतर विचारक प्राकृतिक मानते हैं किन्तु कुछ लोग राष्ट्र को प्राकृतिक नहीं मानते। श्री अरविन्द के अनुसार, "राष्ट्र ही वह सबसे बड़ी इकाई है जिस प्रकृति अब तक सफलतापूर्वक विकसित कर चुकी है।" यह इकाई अभी भी पूर्णतया संगठित नहीं हो सकी है। इसमें विभिन्न वर्गों में सदैव कलह देखा जाता है।

मानव एकता की प्रक्रिया—

प्रखर राष्ट्रवादी होते हुए भी श्री अरविन्द ने यह स्वीकार किया है कि अन्त में राष्ट्रों का विकास मानव एकता के आदर्श की ओर उन्मुख होना चाहिए। राष्ट्रों के विकास का लक्ष्य मानव एकता का विकास है। इस मानव एकता के मार्ग में भारी कठिनाइयां है यद्यपि इस ओर कम से कम एक कदम यह बढ़ाया गया है कि अधिकतर लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि मानव एकता की स्थापना होनी अवश्य चाहिए। श्री अरबिन्द ने राष्ट्र इकाई के विकास में जो सोपान माने हैं, उन्हीं को मानव एकता के विकास में भी आवश्यक माना है। राष्ट्र की उत्पत्ति एक अनिश्चित रचना से हुई जिसमें अनेक प्रकार के प्रकार के एकीकरण के तत्व उपस्थित थे। प्रबल केन्द्रीकरण और दबाव से इस प्रकार संगठन और एकता विकसित हुई। इसके पश्चात् तीसरी स्थिति में राष्ट्र ऐसे सोपान पर पहुंचा जहां बाह्य दबाव के कारण नहीं बल्कि राष्ट्रीयता की भावना के कारण राष्ट्रों में एकता देखी जाती है। श्री अरविन्द के अनुसार, "यदि मानव जाति की एकता भी उन्हीं साधनों तथा अभिकरणों द्वारा और उसी ढंग से प्राप्त की जाती है जिनके द्वारा तथा जिस ढंग से राष्ट्र की एकता प्राप्त की गई थी, तो हमें यह आशा रखनी चाहिए कि इसका क्रम भी ऐसा ही होगा।" यहाँ पर मानव एकता के मार्ग में रहने वाली कठिनाइयां स्पष्ट देखी जा सकती हैं। मानवता की भावना उत्पन्न होने से पूर्व मानव एकता को राष्ट्र के सामने केन्द्रीयकरण और अन्तर्राष्ट्रीय दबाव की एक स्थिति से गुजरना पड़ेगा। इसके लिये मानव ने अब तक जो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें बनाई हैं उनसे यह कार्य नहीं हो सका है। ये संस्थायें संसार को भावी युद्ध से नही बचा सकतीं क्योंकि श्री अरविन्द के अनुसार, "यदि राष्ट्रीय अहम् भाव विद्यमान है, संघर्ष के साधन उपस्थित हैं तो उसके कारणों, अवसरों और वाहनों का भी अभाव नहीं होगा।[1] अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा राष्ट्रों की सेवा और युद्ध सामग्री को सीमित कर देना युद्ध रोकने का सही उपाय नहीं है क्योंकि युद्ध का इरादा बनने पर कोई भी राष्ट्र बहुत कम समय में और बिना किसी विशेष कठिनाई के युद्ध की सामग्री जुटा लेता है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की सफलता में सबसे बड़ी बाधा यह है कि परिवारों, कुलों अथवा राष्ट्रों के अंग व्यक्ति होते हैं जो कुछ

न कुछ विकसित और सभ्य होते हैं, उनसे किसी भी प्रकार के उच्च मनो-भाव या आत्म-नियन्त्रण की आशा नहीं की जा सकती। अस्तु, श्री अरविन्द ने मानव एकता स्थापित करने के लिये राष्ट्रीय अहम् भाव को समाप्त करने की सलाह दी है। जिस प्रकार व्यक्तिगत अहम् भाव बनाये रखते हुए परिवार अथवा राष्ट्र को इकाइयों का विकास नहीं हो सकता, उसी प्रकार राष्ट्रीय अहम् भाव बने रहते मानव की सच्ची एकता असम्भव नहीं है और युद्ध का खतरा बराबर बना रहता है। क्योंकि जैसा कि श्रीअरविन्द ने लिखा है "जहां अहम् भाव कार्य का उद्गम है वहां इसके अपने वास्तविक परिणाम और प्रतिक्रियायें तो सामने आयेंगी हो, बाह्य यन्त्र इन्हें कितना भी कम कर दे पर अन्त में इनका विस्फोट निश्चित रूप में होगा ही, इसमें समय लगा सकता है पर सदा के लिये इसे रोका नहीं जा सकता।"[१] अस्तु, राष्ट्रीय अहं भाव को भी समाप्त किये बिना मानव एकता की स्थापना नहीं हो सकती। किन्तु यह अहं आत्मा नहीं है। जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है, राष्ट्र आत्मा के विकास में व्यक्ति आत्मा का विकास बाधक नहीं बल्कि साधक है। इसी प्रकार मानव एकता के विकास में राष्ट्र आत्माओं का विकास बाधक नहीं बल्कि साधक है। अस्तु, प्रत्येक राष्ट्र का स्वतन्त्र और पूर्ण आत्म विकास होना चाहिए और यदि प्रत्येक राष्ट्र सच्ची राष्ट्र आत्मा को ही अपना आधार बनाकर चलेगा तो विभिन्न राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों में संघर्ष नहीं बल्कि समन्वय ही नियम होगा और मानव एकता का आदर्श प्राप्त किया जा सकेगा। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्री अरविन्द के दर्शन में विभिन्न समुदायों के सम्बन्धों को उसी सिद्धान्त के आधार पर समन्वित किया गया जिसके आधार पर उन्होंने व्यक्ति और समाज या राज्य के सम्बन्धों को समन्वित किया है किन्तु उनके अनुसार यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों अथवा विधियों के द्वारा होना सम्भव नहीं है क्योंकि नैतिक सिद्धान्त विवेक और न्याय नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ही राष्ट्रों के सम्बन्ध निश्चित करती है। जहाँ कहीं कोई राष्ट्र किसी नैतिक सिद्धान्त के नाम पर कुछ करता प्रतीत होता है वहाँ भी वह या तो इसके लिये कोई विशेष त्याग नहीं करता और यदि करता है तो उसके सामने कोई अन्य मजबूरी होती है। जहाँ तक विभिन्न राष्ट्रों में भाई-चारे का प्रश्न है, श्री अरविन्द ने इस को कोरा सिद्धान्त माना है। उनके अनुसार, युद्ध ने यह तथ्य स्पष्ट कर दिया

है कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से केवल बड़ी शक्तियां हीं महत्व रखती हैं, अन्य का अस्तित्व तो केवल आधोनता, संरक्षण या मित्रता के आधार पर होता है।"[4] श्री अरविन्द के इस कथन के कितने ही वर्ष बाद आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ में यही स्थिति दिखलाई पड़ती है । समानता का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में व्यावहारिक नहीं हो सका है।

मानव एकता के विभिन्न प्रयास–

जब मनुष्यों ने मानव एकता के आदर्श के विषय में सोचा तब से विभिन्न राष्ट्रों किसी न किसी प्रकार के संघ के विचार का जन्म हुआ। प्रथम विश्व महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्र सघ की स्थापना हुई। राष्ट्र संघ का विचार एकता में विभिन्नता के सिद्धान्त के अनुरूप था किन्तु अनेक कारणों से यह विश्व को दूसरे महायुद्ध से नहीं रोक सका। श्री अरविन्द ने अपनी पुस्तक मानव एकता का आदर्श में इन कारणों की विस्तृत आलोचना की है। द्वितीय विश्व महायुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ को स्थापना को गई। यह विश्व संघ मानव समाज को तोसरे विश्व महायुद्ध से कहां तक बचा सकेगा यह एक विवादास्पद प्रश्न है किन्तु चूंकि आज विश्व महायुद्ध से समस्त मानव जाति के अस्तित्व को हो खतरा उत्पन्न हो गया है इसलिये श्री अरविन्द ने उन सिद्धान्तों को स्पष्ट करने की चेष्टा की जिनसे संयुक्त राष्ट्र संघ के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है। जहां तक मानव एकता के सिद्धान्तों का प्रश्न है, वे शाश्वत सिद्धान्त हैं। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ भी इन सिद्धान्तों को प्राप्त करने में असफल रहा तो उसका भी वही हाल होगा जो पिछले राष्ट्र संघ का हुआ था। स्वतन्त्र विश्व संघ की शर्तों को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है "स्वतन्त्र विश्व संघ की अपने स्वरूप में एक ऐसी जटिल एकता होनी चाहिये जो विभिन्नता पर आधारित हो और फिर उस विभिन्नता को स्वतन्त्र स्वनिर्धारण पर आश्रित होना चाहिये।"[5] विश्व संघ में यन्त्रवत् एकता स्थापित नहीं की जा सकती, इसमें प्रत्येक राष्ट्र को अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सम्मिलित होना चाहिये । इसके लिये किसी पर किसो भी प्रकार का दबाव नहीं डाला जाना चाहिये क्योंकि यह दबाव स्व-निर्धारण के सिद्धान्त के विरुद्ध है। मानव का लक्ष्य एक ऐसी विश्व संस्कृति

स्थापित करना है जिसमें प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति को विकास का पूर्ण अवसर मिले। यह तभी हो सकता है जबकि कोई भी राष्ट्र किसी भी अन्य राष्ट्र के दबाव में न रहे और सबको स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्वतन्त्रा दी जाये।

श्री अरविन्द के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीयता मानव मन और मानव जीवन के राष्ट्रीय विचार और रूप को अतिक्रान्त करने का तथा उसे मनुष्य जाति के वृहत्तर सम्न्वय सिद्ध करने के हित में नष्ट करने का प्रयत्न है।"[6] श्री अरविन्द इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध हैं। यह मानव एकता का सच्चा आदर्श नहीं है। सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता में राष्ट्रीय विचार को अतिक्रान्त नहीं बल्कि पूर्ण किया जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार अठ्ठारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ और तब से इसे लेकर राजनैतिक विचारकों ने अनेक विकल्प उपस्थित किये हैं। विज्ञान की प्रगति के कारण बढ़े हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क से अन्तर्राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला है और आज बहुत से लोग अपने को विशिष्ट राष्ट्र के नागरिक मानने के साथ-साथ विश्व के नागरिक भी मानते हैं। जो लोग यह यह समझते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार युद्ध के संकट के भय का परिणाम है वे यह भूल जाते हैं कि, "हम उन विचारों और निश्चयों पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रह सकते जो असाधारण संकट तथा परिस्थितियों के प्रबल दबाव के समय बनाये गये हों।"[7] अस्तु, सच्ची मानव एकता को समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व के आदर्शों पर आधारित होना चाहिये। इसके पीछे मूल विचार सभी मनुष्यों की मौलिक एकता है। विभिन्न राष्ट्रों के मध्य की भौगोलिक दूरी मानव एकता में कोई बाधक नहीं है क्योंकि विज्ञान के आविष्कारों से वह दूरी आश्चर्यजनक रीति से कम हो गई है।

मानव एकता में कठिनाइयां—

मानव एकता के आदर्श को प्राप्त करने में उससे कहीं अधिक बड़ी कठिनाइयाँ आयेंगी जो राष्ट्र निर्माण में आयी थीं किन्तु जिस प्रकार राष्ट्रों का निर्माण प्रकृति के प्रयोजन को पूरा करने के लिए हुआ, उसी प्रकार

समस्त कठिनाइयों को पार करके विश्व राष्ट्र की स्थापना भी अवश्य होगी। यदि मानव स्वयं इस आदर्श को प्राप्त करने का मार्ग न निकाल सके तो हो सकता है कि प्रकृति अन्य किसी साधन से इस लक्ष्य को प्राप्त करे। किन्तु इस पृथ्वी पर मानव एकता के आदर्श की स्थापना अनिवार्य है। संयुक्त राष्ट्र संघ अब तक यह आदर्श क्यों नहीं प्राप्त कर सका उसके कई कारण हैं। वास्तव में प्रारम्भ से आज तक उसमें सब राष्ट्रों को स्थान नहीं मिल सका है। पिछले कुछ वर्षों में साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान दिये जाने से एक बड़ी कमी पूरी हुई है। इस विश्व संघ का कुलीनतन्त्र इस तथ्य पर आधारित है कि सुरक्षा समिति में पांच बड़ी शक्तियों को निषेधाधिकार दिया गया है। "मानव एकता का आदर्श प्राप्त करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ के दोषों से भी अधिक गम्भीर तत्व अधिकतर राष्ट्रों का दो गुटों मे विभाजित हो जाना है जिनमें मूल रूप से मतभेद है। इन गुटों का परस्पर विरोध दूर हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का सही अर्थों में विकास नहीं हो सकता।"[7]

मानव एकता के आदर्श में श्री अरविन्द की आस्था उनके विकास के सिद्धान्त पर आधारित है। यदि मनुष्य विकासमान प्राणी है तो जिस तरह वह विकास करके राष्ट्र पर पहुंचा है उसी तरह वह क्रमश: विकास के द्वारा विश्व राष्ट्र पर भी पहुंचेगा क्योंकि राष्ट्र अन्तिम और चरम इकाई नहीं है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "यदि हम और किसी चीज पर नहीं तो विकासात्मक प्रेरणा पर तो भरोसा रख ही सकते हैं, यदि और किसी महत्तर गुह्य शक्ति पर नहीं तो विश्व शक्ति की, जिसे हम प्रकृति कहते हैं, व्यक्त क्रिया और दिशा अथवा उसके उद्देश्य पर तो हम इस बात के लिये निर्भर रह ही सकते हैं कि वह मानव जाति को कम से कम अपने आवश्यक कदम अर्थात् अगले स्वरक्षात्मक कदम तक तो ले ही जायेगी। कारण, आवश्यकता तो यहां है ही, कम से कम उसकी सामान्य स्वीकृति तो प्राप्त हो ही चुकी है और जिस चीज की ओर यह अन्त में ले जायेगी उसका विचार भी जन्म ले चुका है. साथ ही उसके बाह्य रूप ने भी अपनी रचना की मांग करना आरंभ कर दिया है।"[8] मानव जाति के विकास के पीछे छिपे प्रकृति के प्रयोजन में आस्था रखने के साथ-साथ श्री अरविन्द ने संयुक्त राष्ट्र संघ को सफल बनाने

के लिये व्यावहारिक सुझाव भी उपस्थित किये हैं। आरम्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ को निम्नलिखित शर्तों का पालन करना चाहिये।[9]

१- सभी राष्ट्रों को स्वेच्छा से राष्ट्र संघ में सम्मिलित होना चाहिये।

२- राष्ट्र संघ का आधार न्याय और सत्यता के सिद्धान्त होने चाहिये।

३- राष्ट्र संघ का संविधान ऐसा होना चाहिये जो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को विश्वसनीय रूप से सुलझा सके।

४- एक ऐसी स्थायी, केन्द्रीय और शक्तिशालो सत्ता का निर्माण किया जाना चाहिये जिसे सभी राष्ट्रों में मान्यता प्राप्त हो।

उपरोक्त शर्तों का पालन करने से ही संयुक्त राष्ट्र संघ मानव एकता के आदर्श को प्रभावशाली बनाने में सहायता दे सकता है। किन्तु फिर अन्त में जैसा कि पीछे अनेक स्थानों पर कहा जा चुका है, मानव एकता का आदर्श तभी प्राप्त हो सकता है जबकि मनुष्य जाति में विघटनकारी अहंकार के स्थान पर सच्ची आत्मा की स्थापना हो। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक मानव समाज में ही मानव एकता का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है और जब तक हम सच्ची आध्यात्मिकता से दूर रहेंगे तब तक यह आदर्श स्थाई रूप से प्राप्त किया जा सकेगा।

सर्वांग मानववाद-

व्यक्ति, राष्ट्र और मानव एकता के विभिन्न पहलुओं और परस्पर सम्बन्ध में विषय में श्री अरविन्द के विचारों के स्पष्टीकरण से यह पता चलता है कि उन्होंने साकाजिक और राजनैतिक समस्याओं को सुलजाते समय सब कहीं अपनी दृष्टि प्रकृति के अन्तरंग उद्देश्य पर ही रखी है। संसार में जो कुछ होता है वह मनुष्य के पीछे काम करने वाली विश्व प्रकृति या परम शक्ति की प्रवृत्तियों के द्वारा होता है। ये प्रवृत्तियां हमारे वर्तमान और भूत के विश्लेषण से पता चल सकती हैं और इन्हीं के आधार पर हम मानव

भविष्य का अनुमान कर सकते हैं। यह ठीक है कि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए मानव जाति की एकरूपता अत्यन्त कठिन जान पड़ती है किन्तु जैसे छोटे-छोटे राष्ट्रों को लेकर आज संसार में बड़े-बड़े राष्ट्र बन गये हैं, उसी प्रकार भविष्य में मानव-जाति की एकता का आदर्श भी प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिये राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी जीवन के सभी क्षेत्रों में एकरूपता प्राप्त करने के लिये असाम प्रयास करना पड़ेगा। यह एकरूपता को उपयुक्त स्थान देगी, छोटे-मोटे भेदों का अनुमोदन करेगी और तहा तक की उनको प्रोत्साहित भी करेगी। इसके लिये मानव-जाति को सामाजिक विकास के तीन तत्वों व्यक्ति, नाना प्रकार के समाज और मानव-जाति के मध्य सम्बन्धों का विकास करना पड़गा। ये तीनों ही प्राकृतिक इकाइयां हैं। इनमें किसी को भी निकाला नहीं जा सकता प्रारम्भ में प्रकृति व्यक्तियों का विकास करती है, फिर समुदायों का विकास होता है और इसी क्रम में आगे मनुष्य जाति का संयुक्त विकास होगा। श्री अरविन्द के शब्दों में, "इस प्रकार मनुष्य जाति का संयुक्त विकास व्यक्ति, व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समुदायों के बीच, मनुष्य जाति के सामान्य जीवन और उसकी चेतना के बीच तथा उसके स्वतन्त्र रूप में विकसित होते हुये सामाजिक और वैयक्तिक अंगों के बीच आदान-प्रदान एवं आत्मसात्करण के सामान्य सिद्धान्त द्वारा सिद्ध किया जायेगा।"[10]

मानव-जाति के विकास में एकता के सिद्धान्त के अतिरिक्त स्वतन्त्रता और विभिन्नता का सिद्धान्त भी उतना ही अधिक आवश्यक है क्योंकि परम तत्व में एकता और अनेकता दोनों ही हैं। प्रकृति की सामान्य योजना असीम विविधता पर आधारित होती है। मानव एकता के लिये यह आवश्यक है कि स्वतन्त्र और स्वाभाविक समुदायों में ऐसी व्यवस्था हो कि आन्तरिक कलह, विभेद, दमन और विद्रोह के लिये कोई स्थान न रहे। स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार बल प्रयोग के द्वारा मनुष्य जाति की एकता

स्थापित नहीं की जा सकती चाहे यह किसी विशेष राष्ट्र की शक्ति हो अथवा किसी विश्व संगठन की शक्ति हो। इसलिये श्रीअरविन्द विश्व राज्य की कल्पना के विरुद्ध है क्योंकि राज्य की शक्ति सदैव बाहरी दबाव, कानून और पुलिस तथा सेवा के बल पर कार्य करती है। किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा भी यह काम नहीं किया जा सकता। एकता एकमात्र आधार विभिन्न राष्ट्रों का अपना स्वधर्म, अपना विवेक, अपना संकल्प और अपने सचेतन नियम होने चाहियें। जो लोग मानव एकता की स्थापना के लिये विश्व राज्य की कल्पना करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि इसमें वे ही कठिनाइयां हैं जो कि विशेष समाज में राज्य की सत्ता के द्वारा उत्पन्न होती हैं। मार्क्स और गांधी के समान श्री अरविन्द भी अन्त में अराजतन्त्र का समर्थन करते हैं। इसलिये विश्व राज्य से कोई लाभ होता दिखाई नहीं पड़ता।

जो लोग एक ऐसे विश्व राज्य या विश्व राष्ट्र की कल्पना करते हैं जिसमें राष्ट्रों की वैयक्तिकता समाप्त कर दी जायेगी वे यह भूल जाते हैं कि एकरूपता कहीं भी जीवन का नियम नहीं है। प्रकृति में एकता में विभिन्नता पाई जाती है और यह सिद्धान्त जीव जगत् के विषय में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसी कारण से अत्यधिक केन्द्रीकरण मानव समाज में अस्वाभाविक माना जाता है और दूसरी ओर अधिकतर राजनैतिक विचारकों ने विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया है। इस विभिन्नता के मूल में यह नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक समूह को अपने स्वधर्म और अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होना है। अस्तु, श्री अरविन्द के अनुसार, "मनुष्य जाति की एकता को पूर्णतया सच्चा होने तथा जीवन के गम्भीरतम नियमों के अनुकूल बने रहने के लिये स्वतन्त्र समूहों पर आधारित होना चाहिये, और साथ ही समूहों को भी स्वतन्त्र व्यक्तियों का स्वाभाविक संगठन होना चाहिये।"[11]

संदर्भ-सूची

१- **मानव एकता का आदर्श**, पृष्ठ ११२
२- वही, पृष्ठ ११८
३- वही, पृष्ठ १२३
४- वही, पृष्ठ १२८-१२९
५- वही, पृष्ठ २८५
६- वही, पृष्ठ २९२
७- वही, पृष्ठ २९९
८- वही, पृष्ठ ३४४
९- वही. पृष्ठ ३४४
१०- वही, पृष्ट ३९३
११- वही, पृष्ठ १५५

**

वातावरण एवं दर्शन शास्त्र

डॉ० (कु०) छाया राय
रीडर, दर्शनशास्त्र
रा० दु० वि०वि० जबलपुर (म०प्र०)

विश्व की ज्वलंत समस्याओं दार्शनिक निदान

राष्ट्रीय अधिवेशन, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
अध्यक्षीय भाषण, ८ मार्च १९८६

आज विश्व की अनेक ज्वलंत समस्याओं में से एक समस्या वातावरण की है। वस्तुतः 'वातावरण' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। सामान्यतः वातावरण का अर्थ "प्राकृतिक वातावरण" लिया जाता है, अतः इस संदर्भ में ही प्रदूषण तथा शुद्धिकरण की चर्चा की जाती है। मेरा विवेच्य विषय "मानवनिर्मित वातावरण" है, क्योंकि मेरी दृष्टि में यह न केवल मानसिक स्वास्थ्य के लिये अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है, अपितु यह प्राकृतिक वातावरण को भी प्रभावित करना है। मानव-विकास के इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो ऐसा समय भी पाते हैं जब मानव "प्रकृति-पुत्र" के रूप में विचरण किया करता था। प्रकृति के साथ उसके आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध थे। प्रकृति के उपकारों को वह अनुभव करता था, और अपने पूजाभाव में उसे अभिव्यक्त किया करता था। एक समय ऐसा भी आया जब उसे प्रकृति रूपी विशाल यन्त्र का कलपुर्जा माना जाने लगा; पर शीघ्र ही उसने इस दर्जे को नकार दिया। आज प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध शासक एवं शोषण-कर्त्ता का हो गया है। प्रकृति के साथ आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध के अभाव ने

जिस पृथकता की, द्वैत की भावना को जन्म दिया है, उसके परिणाम-स्वरूप मानव ने प्रकृति को विकृत किया है; प्राकृतिक संतुलन को भंग किया है, और इस तरह प्राकृतिक वातावरण को दूषित किया है । यद्यपि बीसवीं शताब्दी की इस दशाब्दी में वह निरन्तर अपनी इस त्रुटि एवं रवैये के प्रति सचेत हो रहा है, तथापि मानव-जीवन के भौतिक विकास व उन्नति की उसकी अदम्य कामना उसके प्रयासों को सफल नहीं होने दे रही है । उसका जन्म व विकास प्रकृति की गोद में हुआ; किन्तु स्वनिर्मित यन्त्रों के द्वारा आज वह उसी प्रकृति को बलपूर्वक रौंदने या नियंत्रित करने का प्रयास कर रहा है । यह कुछ वैसा ही है जैसे कोई बच्चा युवक बन, अपने पैरों पर खडा हो जाने के बाद अपनी जन्मदात्री संपन्न माँ को प्रताड़ित कर, उससे उसकी जमापूंजी भी छीने । इस संदर्भ में जो मूल प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होता है, वह यह है कि ऐसा क्यों हुआ ? एक कारण के रूप में हम बढ़ती हुई द्वैतभावना को इस दुर्व्यवहार की पृष्ठभूमि में पाते हैं । इस सम्बन्ध में पुन: प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर इस द्वैत-भावना का उद्भव व विकास क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर न देते हुये यह कहा जा सकता है कि हमें बुद्ध का अनुसरण करना चाहिये क्योंकि आज हमारे समक्ष महत्वपूर्ण समस्या तीर कहां से आया ? किसने बनाया ? आदि न होकर, यह है कि लगे हुए तीर की पीड़ा से कैसे परित्राण पाया जाय ? इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि दु:ख के कारण की खोज बुद्ध ने भी की थी; क्योंकि बिना कारण जाने कारण का निराकरण सम्भव नहीं है और कारण को समूल नष्ट किये बिना स्थायी सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता । कारण खोजने पर मनुष्य के अहंकार को जड़ में पाते हैं । प्रारंभ से ही भारतीय दर्शन इस 'अहंकार' से अपने को मुक्त रखने की शिक्षा देता है; क्योंकि यह अहंकार अनेक बुराईयों की जड़ है ।

आज जिस विश्व में हम सांस ले रहे हैं और जिन समस्याओं से आतंकित हैं उनकी जड़ खोजें तो हमारा ध्यान कुछ प्रवृत्तियों पर अवश्य केन्द्रित होगा । इनमें से प्रमुख हैं—

(१) भौतिकवादी दृष्टिकोण ।

(२) व्यक्तिवादी या स्वार्थपरक चिन्तन और जीवनदृष्टि ।

(३) मशीनीकरण तथा औद्योग करण से उत्पन्न संवेदनशून्यता।

(४) धार्मिक सैद्धान्तिकता एवं कट्टरता।

(५) पंगु विश्व कानून व्यवस्था।

ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त प्रवृत्तियां ही कुल प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। दूसरे ये प्रवृत्तियां परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। केवल सुविधा की दृष्टि से उनकी गणना पृथक्-पृथक् की गई है। संगोष्ठी में निर्धारित समय में उपर्युक्त समस्त बिन्दुओं पर अपने विचार सविस्तार प्रस्तुत करना संभव नहीं है अतः संक्षेप में कुछ मुद्दों को बिचार-विमर्श हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है। उपर्युक्त प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि विश्व की ज्वलंत समस्याओं के मूल में स्थित इन प्रवृत्तियों पर जब तक हम विजय प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक न केवल विश्व व्यापी अशान्ति की यातना हमें झेलते रहना होगी, अपितु संपूर्ण विश्व आत्म-संहार की दुश्चिंता से भी पीड़ित रहेगा। इन पर विजय वैचारिक क्रान्ति या या दार्शनिक चिन्तन से संभव है।

सर्व प्रथम भौतिकतावादी दृष्टिकोण को ले जिसके प्रभाव से आज, एक समय अध्यात्मयुग के सिंहासन पर आसीन भारत भी पीड़ित है। कुछ लोग भौतिकतावादी दृष्टिकोण को "पाश्चात्य" दृष्टिकोण संबोधित करते हैं जो अत्यधिक भ्रामक है। वस्तुतः दृष्टिकोण का संबंध मानव-जीवन के अर्थ या उद्देश्य से संबंधित किकी व्यक्ति के निजी निर्णय व निष्कर्ष से रहना है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव उसकी जीवन-शैली पर पड़ता है। जीवन के प्रति मानव के इस भौतिक दृष्टिकोण ने उसे बहिर्मुखी बना दिया है। भौतिक सुख एवं सुविधाओं के लोभ ने उसे 'शरीर' और 'मन' को महत्व देना सिखाया और वह अपनी बुद्धि का उपयोग भौतिक सुख की प्राप्ति के लिये करने लगा। इस भौतिकतावादी दृष्टिकोण ने ही "उपभोक्ता संस्कृति" को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन व "इस्तेमाललायक" वस्तु समझने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में यही दृष्टिकोण "साम्राज्यवादी" प्रवृत्ति के रूप में प्रकट हुआ। विश्व का सर्वाधिक धनी देश अमेरिका विकासशील देशों के साथ जो व्यवहार कर रहा है, शास्त्रनिर्माता देश अन्य देशों को जिस प्रकार राष्ट्र न मानकर, 'बाजार'

बनाये हुये हैं, वह सर्वं विदित है। आज हम में से अनेक यह अनुभव कर रहे हैं कि विश्व-अशान्ति की जड़ें कहीं-न-कहीं भौतिकतावाद एवं उसके दो उत्पादों— उपभोक्तावाद तथा साम्राज्यवाद—में हैं । इस विश्व व्यापी अशान्ति के निराकरण के लिये मनुष्य को उसके मूलस्वरूप या अस्तित्व के आधार से पुन: परिचित करवाना अति-आवश्यक है। हम सब मूलत: चेतना या चित्शक्ति है। इसे ही दर्शन "आत्मन्" संबोधित करता है। सरल शब्दों में, हम मनुष्य समान हैं। इस सत्य का दिग्दर्शन कराना दर्शन शास्त्र का कार्यं है और ऐसा पुनस्मंरण ही भौतिकतावाद के चंगुल विश्व विश्व या मानव-समाज को बचाने के लिये अपेक्षित है। आत्मन् को मानव का स्वरूप या सत्ता का आधार स्वीकार करने का अर्थ तन, मन व बुद्धि को हेय सिद्ध करना कदापि नहीं है क्योंकि वे भी मानव-संरचना के महत्वपूर्ण अंग है। यह तो केवल यह याद दिलाना है कि प्राथमिकता किये दी जाये ? आज आवश्यकता अन्तर्मुखी होकर अपने को समझने की है । तभी आध्यात्मिक दृष्टिकोण हम अपना सकेंगे और विश्व-कल्याण में सहायक हो सकगे।

कैसी विडम्बना है कि सांसारिक सुख की क्षणिकता के एक सत्य पर दो परस्पर विरोधी दर्शनों की आधार शिला रखी हुई है। ये हैं— सर्वसुख उपभोगवाद और सर्वसुखत्यागवाद। दोनों ही अतिवादो दृष्टिकोण है और दोनों ही मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देते। पहला यदि उसे पाशविक धरातल पर ढकेलता है, तो दूसरा सन्यासी व संसारत्यागी बनाकर संवेदना शून्य और निर्विकार बना देता है। यही, कारण है कि सर्वांगीण दृष्टि कोण की समर्थक भारतीय परंपरा और और उसके मूल में स्थित भारतोय दर्शन ने संतुलित जीवनदृष्टि को रूपरेखा प्रस्तुत की। उसने समझाया कि अर्थ (भौतिक मूल्य व सुख) और काम (मनोवैज्ञानिक सुख व मूल्य) अभीष्ट है; पर धर्म (नैतिकता व मानव-समाज) से नियंत्रित होकर ही। धर्मसम्मत न होने पर वे अमंगलकारी, फलस्वरूप त्याज्य हैं। चौथे पुरुषार्थ 'मोक्ष' की भी चर्चा की गई जिसे आध्यात्मिक मूल्य घोषित किया गया। इस प्रकार भौतिक सुख को एकमात्र मूल्य न मानने के कारण भारतोय परंपरा व दर्शन कभी भौतिकतावादी दृष्टिकोण का समर्थक नहों रहा। यही कारण है कि चार्वाक दर्शन मूल भारतोय विचारधारा में घुलमिल न सका।

भौकिकतावादी दृष्टिकोण के साथ व्यक्तिवाद का प्रकोप भी विश्व को सहना पड़ रहा है। मनुष्य इतना स्वकेन्द्रित हो गया है कि उसका चिंतन-शैला व कार्य-प्रणाली स्वार्थपरक हो गई है। स्वार्थ इतना प्रखर हो गया है कि उसकी सिद्धि के लिये यदि एक क्या अनेक व्यक्तियां की भी बलि चढ़ाना पड़ तो स्वार्थान्ध व्यक्ति हिचकता नही है। इस स्वार्थपरता पर अकुश लगाने का एक तरीका मानव-मानव के मध्य सौहार्दपूण सम्बन्धों की स्थापना व विकास करना है।

एक समय था जब मनुष्य अचेतन प्रकृति के साथ भी आत्मीयता का अनुभव करता था, पर बढ़ते मशीनीकरण एवं औद्योगीकरण ने उसे इतना संवेदनशून्य बना दिया है कि आज एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के दु:खदद में भागीदार न रहा। मशीनों आर उन पर आश्रित उद्योगों ने महानगरों को जन्म दिया, और महानगरीय जीवन की चकाचौंध से चमत्कृत मशीनों का निर्माना मानव स्वयं मशीनों से नियत्रित व शासित होता गया। जो यंत्रो का निर्माता था वह यंत्रों का दास बन गया। मशीनों पर आश्रित पर होते-होते स्वयं मानत्र का ही मशीनीकरण होता जा रहा है, और वह अनेक मशीनों में से एक मशीन बनता जा रहा है, भले ही यह मशीन मानवाकार हो। चेतना व संवेदना, जो मानव की विभेदक विशेषताय हैं, उसके यंत्रवत् व्यवहार तथा यांत्रिक जीवन-पद्धति के नीचे लुप्त होती जा रही हैं। मानव अपना व्यक्तित्व खो रही है। अपनी अद्वितोयता के इस मूलमन्त्र को उसने विस्मृत कर दिया है कि संपूर्ण विश्व में कोई भी दो मनुष्य या व्यक्ति शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक बनावट की दृष्टि से एक समान नहीं होते। बनावट की दृष्टि से एकरूपता केवल मशीनों में संभव है। मानव व्यक्तित्व को इस संकट से तभी बचाया जा सकता है जब मानव को उसकी अद्वितीय विशेषताओं का स्मरण करवाकर, खोई गरिमा की पुनप्राप्ति के लिये सचेष्ट बनाया जाये। मानव को यह समझना आवश्यक है कि मशीनों से नहीं, विश्व-कल्याण उसकी प्रेम, करुणा, स्नेह आदि सद्भावनाओं से होगा। जब वह सद्गुणी व सत्कर्मी बनेगा तभी विज्ञान व तकनीकी उसके हाथों कल्याण का साधन बन सकेंगे।

वर्षों से विश्व के अनेक देशों में, तथा देशों के मध्य, धर्म के काम पर

जेहाद् या तथाकथित धर्मयुद्ध छिड़े हुए हैं। वस्तुतः ये युद्ध धर्म के लिये अथवा धर्म रक्षार्थ नहीं हैं। इनकी जड़ें स्वार्थपरता, सत्ता-लोलुप से लेकर धार्मिक सैद्धान्तिकता एवं कट्टरता तक फैली हुई हैं। मेरी दृष्टि में, धर्म के नाम पर लड़े जा रहे इन युद्धों की विभीषिका से बचने का उपाय धर्म-निरपेक्ष हो जाना अर्थात् किसी भी धर्म में आस्था न रखना नहीं है। इसका सम्यक् उपाय है सर्वधर्मसमभाव को विकसित करना। दूसरे शब्दों में, समस्त धर्मों के प्रति आदरभाव विकसित कर धार्मिक सहअस्तित्व के आदर्श को स्वीकार करना आज अपेक्षित है। यह गहन दायित्व दर्शन के आचार्यों, धर्माचार्यों तथा समस्त सुधीजनों का है, क्योंकि धर्म के ठेकेदार, सरकार व शासकीय नीतियां सर्वधर्मसमभाव के प्रचार-प्रसार में कभी सक्षम नहीं रहीं हैं।

अन्तिम विचारणीय विषय पंगु विश्व-कानून-व्यवस्था है। विज्ञान तथा तकनीकी प्रगति ने विश्व के समस्त देशों को अत्यन्त निकट ला दिया है। परिणामस्वरूप कर्तव्य का क्षेत्र अब समाज विशेष या राष्ट्र विशेष तक सीमित नहीं रहा। आज प्रत्येक राष्ट्र के अन्य राष्ट्रों के प्रति अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के प्रति कुछ कर्तव्य हैं, जिनका निर्वाह उन्हें विश्व-सामंजस्य तथा शान्ति की स्थापना के लिये करना चाहिये। विश्व-सामंजस्य के उद्देश्य से ही "लीग ऑफ नेशन्स" तथा यू० एन० ओ० जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें समय-समय पर स्थापित की जाती रही है; किन्तु वे उद्देश्य प्राप्ति में कितनी असफल रहीं हैं, यह सर्व विदित है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के समाधान के लिये स्थापित विश्वस्तर की इन संस्थाओं की असफलता के कारणों को गंभीरतापूर्वक खोजा जाना चाहिए जिससे उन कारणों को दूर कर विश्व-व्यवस्था के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। इसके अतिरिक्त, यह भी आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुधार लाने के लिये विश्वव्यापी जनमत तैयार किया जावे, तथा दोषी देश को दण्ड देने का विधान बनाकर, उसे क्रियान्वित करने का सर्वाधिकार भी सर्वसम्मति से किसी एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को प्रदान किया जाये। विश्वशान्ति के लिये विश्वव्यापी जनमत तैयार करने का महत्वपूर्ण कार्य प्रत्येक देश के चिन्तकों व दार्शनिकों को सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि भौतिकतावादी दृष्टिकोण को आध्यात्मिक जीवन-दर्शन से स्थानापन्न करना, स्वार्थपरक चिन्तन शैली एवं कार्यपद्धति को आत्मीयतापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना से विस्थापित करना, मशीनीकरण से मानवता की रक्षा, सर्वधर्मसमभाव का विकास और विश्व-व्यापी नैतिक चेतना को जगाने का कार्य मेरी दृष्टि में आज दार्शनिकों का विश्व मानवता के प्रति परम कर्तव्य है। इस कर्तव्य को निभाहने के लिये दार्शनिकों, चिन्तकों एवं दर्शन के शिक्षकों को पाठ्यक्रम तथा कक्षाओं से बाहर भी सृजनात्मक चिन्तन के प्रचार-प्रसार के लिये प्रयत्नशील होना पड़ेगा। टेलिविजन, रेडियो, समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं के माध्यम से, तथा स्कूल, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय आदि शिक्षा केन्द्रों के माध्यम से, और सार्वजनिक व्याख्यानों व दैनिक वार्तालाप के द्वारा विश्व के प्रत्येक नागरिक के सम्मुख ऐसा जीवन-दर्शन प्रस्तुत करना होगा, जो विश्व की समस्याओं के समाधान के साथ ही साथ उसे आनन्दपूर्ण जीवन का आश्वा-सन दे सके। राष्ट्रीय अधिवेशन के इस अवसर पर भारतीय दार्शनिकों तथा दर्शनशास्त्र के समस्त शिक्षकों का स्वागत है कि वे इस विश्व यज्ञ में सक्रिय भाग लेते हुये मानवता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को निभायें।

विश्व समस्या और राजनीति

डॉ० गिरिजा व्यास रोडर
(एम०एल०ए०, राजस्थान)
उदयपुर विश्वविद्यालय, राजस्थान

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समय के साथ-साथ विश्व की राजनीतिक विचारों एवं शासन व्यवस्था में परिवर्तन आया है। भारत ही नहीं विश्व के अधिकांश देशों में प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था के कारण कुछ चुनिन्दा लोगों के हाथों में बागडोर आई है इसलिये राजनीति और नैतिकता का प्रश्न गहरा उभर कर सामने आया है। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् और पश्चिम में विश्वयुद्ध और औद्योगिक क्रान्ति के बाद राजनीति में जो मोड़ आया है उसके लिये ऐसे नैतिक आधार की आवश्यकता है जो एक ओर सुप्रशासन दे सके और दूसरी ओर व्यक्ति की वैयक्तिकता को भी बरकरार रख सके। आज प्रजातान्त्रिक युग में प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व है कि वह नैतिकता पर अपना व्यवहार आधारित करे, क्योंकि जैसा कि एम० एन० राय ने कहा है"[1] Without moral men then can not be moral Society,[1] अर्थात् नैतिक व्यक्तियों के बिना नैतिक समाज नहीं बन सकता। किन्तु आज नैतिक विहीन राजनीति ने मानव की स्वयं में ही श्रद्धा समाप्त करदी है। आज का राजनेता शक्ति की लड़ाई में फंस चुका है इसकी अच्छी व्याख्या एत० एन० राय ने अपनी पुस्तक Politics power & parties में की है, Leaders of Political parties actually engaged in the struggle for power & Simutaneously Condemn power-politics, Parties enjoying the patronage of the upper classes proclaim their intention to establish a classless society, businessmen, big & small call themselves socialists.

one hears the cry for morality on all sides, it has become incumbent on public men to talk of moral values.'[2] राजनीति शक्ति की छीना झपटी और आर्थिक लूट की भूख सर्वोपरि है। विश्व का कोई भी राष्ट्र किसी न किसी न किसी रूप में इनसे ग्रस्त है। आज राजनीति नीतिविहीन हो गई है। आज साध्य और साधन को भुला बैठा राजनेता यह नहीं विचारता कि गलत साधन से शुभ साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, वे येन केन प्रकारेण शक्ति से जुड़ा रहना चाहते हैं। वे शक्ति के खेल में रत हैं, यह भूल कर कि हर खेल के कुछ नियम होते हैं।

आज राज़नीति में प्रतिष्टित अधिकांश व्यक्ति नैतिकता के विपरीत कार्य करते हैं। अमेरिका जैसे प्रजातान्त्रिक देश में भी लोग यह सोचने को विवश है कि राजनेता प्रथम श्रेणी के बौद्धिक और नैतिक व्यक्ति क्यों नहीं हैं। राजनीति में अधिकांश वे ही व्यक्ति हैं जो नैतिक रूप में बहुत गिरे हैं, जिनका कोई चरित्र नहीं है और वे किसी राजनैतिक उद्देश्य के लिये नहीं अपितु अपनी स्वार्थ लोलुपता के कारण राजनीति में प्रवेश पालेते हैं। किन्तु प्रतिशत में कम ही सही कुछ लोग राष्ट्रीय हित को दृष्टिगत रखकर राजनीति में प्रवेश करते हैं। यह सत्य है कि राजनीति की लम्बी दौड़ में पिछले राजनेता पीछे छूट जाते हैं और सही अर्थों में रजनेता आगे बढ़ते रहते है, बशर्ते कि स्वार्थी तत्वों द्वारा बिछाएं कांटों में उलझ कर वे वापिस लौटने की न सोच लें। इन राजनेताओं का ही दायित्व वे कि वे सामाजिक और राष्ट्रीय हित के लिये ऐसे नैतिक आयामों पर अपना राजनीति दर्शन खड़ा करें कि जिसे आसानी से ध्वस्त न किया जा सके।

आज एक विकसित और वयस्क राजनीति की आवश्यकता है। यह सही है कि आज के राजनेता से हम क्लासिकल नैतिकता की अपेक्षा नहीं कर सकते किन्तु कम से कम भारत के लिये तो राजनीति का नैतिक आधार इसलिये भी आवश्यक है कि हमारे प्रजातन्त्र का आधार धम और दर्शन है, हमारी राजनीति वादों में नहीं उलझे अन्यथा हम त्रिशंकु बन कुछ प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

M. N. Roy : Politics, power and parties p. 44, 45

आज राजनीतिक पार्टी और राष्ट्र के प्रधान का यह दायित्व है कि वह पार्टी में ऐसे लोगों को ले जिनका एक चरित्र है, आज का सम्पूर्ण दर्शन इलेक्शन कम्पेन रणनीति बन गया है जिसमें प्रत्येक पार्टी यह विचारती है कि विरोधी पार्टी को आपस में विभक्त करना और उन पर इस प्रकार के आक्रामक आरोप लगाना कि वे और अधिक न बढ़ कर चुप्पी साध लें और उनकी चुप्पी का फायदा उठाना कुछ राजनीति के नैतिक आयाम बन गए हैं ।

किन्तु इस अस्त व्यस्तता के बावजूद भी लोगों में नई चेतना प्रस्फुटित हो रही है, जनता इन हथकण्डों से ऊब कर अब संजीदा राजनीति की अपेक्षा में है । अब राजनेताओं को छिछली राजनीति से ऊपर उठकर राजनीति जीवन मूल्यों में नये आयाम देने होंगे और परिपक्व राजनीति देनो होगी ।

आज के सन्दर्भ राजनेताओं के द्विविध—नैतिक मूल्य है (अ) पार्टी के प्रति उनके दायित्व और जीवन मूल्य (ब) जनता के प्रति राजनेता के उत्तरदायित्व और मूल्य । वैसे इन दोनों प्रकार के दायित्वों में संघर्ष नहीं होना चाहिए क्योंकि पार्टी का उद्देश्य भी जनता को हर सम्भव राहत पहुंचाना है । इसी प्रकार राजनेता के व्यक्तिगत राजनेता के रूप में जीवन मूल्य हैं और सार्वजनिक नेता होने के नाते जीवन मूल्य हैं, एक अच्छे राज-नेता का दायित्व इतना एकत्वपूर्ण होता है कि वह व्यक्तिगत मूल्यों का पालन करता हुआ सार्वजनिक व्यक्तियों की रक्षा में तत्पर रहता है ।

आज जिस युग में हम जी रहे हैं उसमें नैतिक मूल्य निश्चय ही पुरा-तन समाज के नैतिक मूल्यों से अलग होंगे । जैसा कि बर्टन्ड रसल के विचारों को आर० सी० गुप्ता ने इस प्रकार रखा है : "The Philosopher King was dismissed long ago as an idle dream, but the Philo-sopher partty, though equelly fallacious, hciled as a great, discovery"[1]

आज के परिप्रेक्ष्य में निश्चय ही हम यह अपेक्षा नहीं करते कि राजनेता परम सत्यवादी, परम अहिंसक और परम अपरिग्रही होगा किन्तु बिना नैतिक मूल्यों

के वह राजनीतिक जीवन में सफल नहीं हो सकेगा इसमें सन्देह नहीं—राज-नेता को राजनीति में नतिक आयाम ढूढने होंगे। विभिन्न पार्टियों के राज-नेताओं को एक दूसरे पर कीचड़ उछालने के स्थान पर राष्ट्रीय और अन्त-र्राष्ट्रीय मुद्दों पर अधिक विचार करना चाहिये, विवादास्पद मसलों का खुले रूप में समाधान होना चाहिये जिसे इनकी पार्टी को हो नहीं जनता को भी उस समाधान में भागीदार प्रतीत हों अधिक पब्लिक फोरम्स् बनने चाहिए। आज हम विश्व-नागरिकता के युग में जी रहे हैं जिसके लिये शिक्षा एक आवश्यक शास्त्र है, राजनेता को इसके लिये प्रयास कर ऐसी शिक्षा नीति देनी चाहिये जिससे सबका सर्वांगीण विकास तो हो ही वरन जिससे प्रजातन्त्र का सही ज्ञान भी प्राप्त हो सके।

अन्त में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि के आज के सन्दर्भ में राजनेता का नैतिक दायित्व क्या है या उसकी राजनीति के मूल्य क्या हो सकते हैं ? आज औद्योगिक, प्रजातान्त्रिक वैज्ञानिक युग में क्लासिकल नैति-कता की बात करें तो शायद यह युगानुरूप नहीं होगा किन्तु आजभी नेता और नैतिकता को अलग नहीं किया जा सकता। प्रो० ब्राउन के अनुसार वैसे तो किसी के भी निरपेक्ष नैतिक का खाका खींचना कठिन है किन्तु आज के परिप्रेक्ष्य में राजनेता के कुछ नैतिक आदर्श निम्नलिखित हो सकते हैं :—

१- एक राजनेता को अपने पद के उत्तरदायित्वों के प्रति पूर्ण चैतन्य होना आवश्यक है। उसे विदित होना चाहिये कि उसका छोटा सा निर्णय भी लाखों लोगों की नियति से सम्बन्धित है, जैसा कि कहा गया है, 'An inept doctor may kill only a few patients, a mediocre-Politicion may make decisions that lead to the death needlessly to millions of fellow-century men.

अर्थात् एक अदक्ष डाक्टर अपने कुछ रोगियों को मार सकता है किन्तु एक राजनेता वह निर्णय ले सकता है जो उसके राष्ट्र के करोड़ों व्यक्तियों को

1. R.C. Gupta, the greal Political thinkers, 544

अनावश्यक रूप से मौत के घाट उतार दे। निर्णय लेते समय सर्वथा उसे व्यक्तिगत स्वार्थ और पक्षपात् से रहित होना चाहिए क्योंकि उसका उत्तर-दायित्व कुछ लोगों के प्रति न होकर समस्त समाज के प्रति होता है।

२- एक राजनेता को निरपवाद रूप से ईमानदार होना चाहिये। हाँलाकि

आज के परिप्रेक्ष्य, में यह व्यंग प्रतीत होता है कि राजनेता और ईमान-दारी। किन्तु आज भी जनता चाहे वह अमेरिका में जैसे पूर्ण विकसित देश की हो या गांवों में बसने वाली हमारी भारत की उसी राजनेता का मन से आदर करती है जो ईमानदार हो गवर्नमेन्ट इकानामी (शासकीय मितव्ययता) में इसी के अन्तर्गत आती है। निजों कार्टर ने जब इकानोमी की दृष्टि से छोटी से गाड़ी का उपयोग शुरू किया तो सर्वत्र उसके निर्णय का स्वागत किया गया। राजनेता में इन्टीग्रिटी आवश्यक है येन केन प्रकारेण पुन. निर्वा-चित होना उतना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि अपने क्षेत्र और लोगों के प्रति integrity दिखाना, यदि वह पुनः चुनना चाहता है तो उसे अपने क्षेत्र से गहरा सम्बन्ध रखना होगा और अपनी पार्टी के प्रति वफा-दार कार्यकर्त्ताओं के प्रति समर्पित रहना होगा, उनको आशाओं की पूर्ति करनी होगी।

३- राजनेता का व्यक्तित्व ढिलमिल नहीं होना चाहिए आम जनता उस व्यक्ति को कभी नेता स्वीकार नहीं कर सकती जो आए दिन अपना आदर्श बदलता रहे।

४- एक राजनेता को अपने राजनैतिक जीवन में पर्याप्त बुद्धि का परिचय देना आवश्यक है। उसे न केवल ज्वलन्त समस्याओं से वाकिफ होना चाहिये अपितु उसे अपने विषय की महारत हासिल भी आवश्यक है, उसका अध्ययन और चिन्तन उसे ऐसी निर्णायक बुद्धि देते हैं जो संवेगों रहित होती है जिससे वह राजनैतिक जीवन के उतार चढ़ाव की चिन्ता से ऊपर उठकर निर्णय लेती है। जैसा कि गीता में कहा गया है:

५- राजनेता को fair play की अनुभूति देनी चाहिए जितना वह (Parti-sonship) और (pryndice) दूर रहेगा उतना ही वह निशपक्ष बन

सकेगा और ऐसी परिपक्वता उत्पन्न कर सकेगा जिससे अपने विरोधी के व्यक्तिगत जीवन को नहीं उछाले और जनता क्षेत्रीय, जातिगत व्यक्तिगत धार्मिक भावना पर कुठाराघात न करे।

६- सामान्य व्यक्ति की भांति राजनेता में भी कमियां हो सकती हैं वह भी त्रुटि कर सकता है किन्तु जैसें यह मान हो कि उसने गलत निर्णय ले लिया है अथवा सामान्य जन के हित के विरुद्ध कोई त्रुटि कर ली है तो उसका यह नैतिक दायित्व बन जाता है वह अपनी त्रुटि को सुधार ले महात्मागांधी ने कहा था :

There is no one without faults, not even men of god. They are menof god not because they are faultless, but beccause they know thir own faults and are eveready to currect themselves."

अर्थात् कोई भी व्यक्ति त्रुटि विहीन नहीं है, देवता भी नहीं, वे ईश्वर के मनुष्य या देवता इसलिये नहीं है कि वे त्रुटिविहीन है अपितु इसलिये हैं कि वे त्रुटियों को जानते है और स्वयं को सुधारने को तत्पर रहते हैं।

७- राजनेता को ही नहीं अपितु उसके मित्रों और परिवारों को भी भ्रष्टाचार और निहित स्वार्थ से ऊपर उठकर उसे सहयोग करना चाहिये। राजनेता का यह दायित्व है कि वह स्वयं तो भ्रष्टाचार से दूर रहे ही उन्हें भी दूर रखे आज कुछ उदाहरणों में देखने में यह आता है कि राजनेता तो अपनी साफ सुथरी छवि प्रस्तुत करता है और भ्रष्टाचार उसके परिवार के अन्य सदस्य एवं मित्र करते हैं। ऐसे व्यवहार का प्रभाव राजनेता के राजनीतिक जीवन पर अवश्य पड़ता है, कहा गया है—

Not only Ceaser but ceaseev's wisfe should be alove suspicion.

राजनेता का महत्वपूर्ण नैतिक दायित्व यह भी है कि वफादार रहे—अपनी पार्टी के प्रति, अपने क्षेत्र के लोगों के प्रति और लोगों से वायदे किये उन्हें

डॉ० जयदेव वेदालंकार निदेशक कान्फ्रेंस मान्य प्रतिनिधिगण का स्वागत कर रहे है। साथ डॉ० एन०के० देवराज बैठे हुए है।

पूर्ण करने में भी जहां तक हो सके उसे झूठे आश्वासन और वायदे करने भी नहीं चाहिये जिनकी पूर्ति कर पाना असम्भव हो।

किसी भी राष्ट्र के लिये राजनीतिक नैतिकता एक आवश्यक शर्त है, किन्तु भारत के लिये तो यह एक अनिवार्यता है। क्योंकि भारतीय प्रजा-तन्त्र का आधार हमारा धर्म और दर्शन है। लोगों के अचेतन में बैठा नैति-कता का प्रश्न-अनैतिक राजनेता को नहीं बख्शता। एक आम भारतीय मूल्य रहित जीवन का प्रशंसक नहीं हो सकता और राजनेता का जीवन तो पूर्णतया सार्वजनिक होता है इसलिये उसके निर्णय, उसका व्यवहार एवं आचरण का आधार नैतिक होना चाहिए। आपात् काल के अपवादों को छोड़ कर (नरो वा कुंजरा के उदाहरण जैसे) नीतिविरुद्ध कार्यों को कभी सराहना नहीं की गई और न भविष्य में की जायेगी। आज की अधिकांश समस्याएं अधिकांशतया सब प्रकार के राजनीतिज्ञों द्वारा ही पैदा की जा रही है। यदि सभी पार्टी के नेता थोड़ा सा नैतिक दायित्व समझें तो हम हमारे प्रजातन्त्र की रक्षा करने में सक्षम हो सकेंगे। सामाजिक और राज-नैतिक कलापों को नैतिकता से संयुक्त होना आवश्यक है। 'The trying need of the time is to harmonize ethics withe a social philosophy and political practice." ।

—❀—

M. N. Roy, Politics, Power & Parties. 45

मूल्यों का क्रियात्मक स्वरूप

डा० राम जी सिंह
प्रोफेसर गांधी दर्शन विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय, बिहार

कई यूरोपीय देशों में यूरो—मम्यूनिज्म के नाम से साम्यवाद के जीवन मूल्य के साथ मानवीय स्वतन्त्रता के मूल्य को साथ करके देखा जा रहा है। वहाँ जहां मार्क्स– एजेल्स को स्वीकार किया जाता है, वहां लेनिन-वाद का परित्याग करके नृशंस साम्यवाद के बदले मानवीय साम्यवाद की कल्पना की जा रही है। स्वयं रूस में पैस्टर नाइक, सोसजिन्सटीन और आज सोखोरोव दम्पत्ति सोम्य ढंग से ही सही स्वतन्त्रता के जीवन मूल्य के लिये जूझ रहे हैं। पोलेंड में ६० लाख से अधिक मजदूर वेलेशा के नेतृत्व में स्वतन्त्र श्रमिक आन्दोलन के-लिये संघर्ष शील हैं। चीन में भी माओ के बाद उदार-वाद का एक उतार आया ही था। स्टालिन के बाद रूस में भी खुरश्चेव के समय साम्यवादी शासन में कुछ उदारता आयी थी। असल में स्वतन्त्रता मानव का शाश्वत जीवन मूल्य है उसके बिना उसे संतोष एवं शान्ति नहीं मिलती। यही है कि मुक्ति को चाह। असल में साम्यवाद ने मानव को एक वस्तु मानकर उसके साथ यान्त्रिक दृष्टि मे व्यवहार करना चाहा। उसने उसके भौतिक पक्ष को जितनी गहराई से समझा, उसके बौद्धिक एवं आध्या-त्मिक पक्ष का नहीं। इसीलिये साम्यवाद मानव मुक्ति की घोषणा तो करता है, लेकिन वह उसे मुक्ति दे नहीं पाता।

यह ठीक है कि मानवीय मूल्य या उसकी स्वतन्त्रता शून्य से न उद्‌भूत होती है और न शून्य में अवस्था रहतो है। इसलिये मानव मूल्यों के उन्नयन के लिये मानव के आर्थिक-सामाजिक–राजनैतिक संदर्भों को भी

सम्मुन्नत करना होगा। इसी को बापू "स्वराज" कहते थे। यही उनकी "जड़मूल से क्रान्ति", डा० लोहिया की "सप्तक्रांति" और जे. पी. की "सम्पूर्ण क्रान्ति" है। मानव मूल्यों का अभ्युत्थान यदि नाम और जप, पूजा और प्रार्थना से ही हो जाता तो गांधी हिमालय की गुफाओं में जाकर साधना करते। लेकिन वे तो आजीवन गलत समाज-व्यवस्था, गलत राजनीति, गलत शिक्षा आदि से संघर्ष करते रहे। हृदय परिवर्तन और विचार परिवर्तन के साथ उन्होंने व्यवस्था परिवर्तन को अत्यधिक महत्व दिया। उन्होंने "ईश्वर अल्ला तेरे नाम" की प्रार्थना ही नहीं की, बल्कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये नोआखाली और बिहार में घूमते हुए उसके लिये अपनी शहादत दी। उन्होंने 'अछूतों' को केवल हरिजन ही नहीं बनाया बल्कि कठोर सत्याग्रह के द्वारा उनके लिये मन्दिरों के द्वार भी खुलवाये और उन्हें हिन्दू जाति से अलग करने के दुष्चक्र को विफल कर देने के लिए आमरण अनशन के द्वारा अपने प्राणों की बाजी भी लगा दी। केन्द्रित अर्थव्यवस्था या केन्द्रित राज्यव्यवस्था में मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कुठाराघात देखकर उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में खादी-ग्रामोद्योग की विकेन्द्रित व्यवस्था एवं राजनैतिक क्षेत्र में ग्राम-स्वराज्य या पंचायती व्यवस्था आदि की नीव डाली और स्वयंसेवी संस्थाओं का जाल बिछा डाला। वे शांति के मन्त्र दाता ही नहीं बने, पुलिस के विकल्प में शान्ति-सेना का संगठन बन या। पूंजीवाद और साम्यवाद के विकल्प के रूप में ट्रस्टीशिप का विचार तथा शोषण एवं उत्पीड़न के लिये असहयोग एवं अवज्ञा की रणनीति रखी। शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसी शिक्षा की योजना रखी जिसमें मानव की समग्रता सुरक्षित रहे और मानव को मुक्ति मिल सके— "सा विद्या या विमुक्तये।" संक्षेप में गांधी ने मानवीय मूल्यों के अभ्युत्थान के लिये मानव की स्वतन्त्रता के अनुरूप समाज-व्यवस्था की संरचना की। गांधी—मानव मुक्ति के मन्त्र-द्रष्टा और स्वद्रष्टा ही नहीं बने बल्कि ऐसी समाज-व्यवस्था के आचार्य भी बने जिसमें मानव स्वतन्त्रता की साँस ले सके। उसका मस्तक ऊंचा रहे, मस्तिष्क उन्मुक्त रहे एवं हृदय उदात्त एवं उदार रहे।

यही कारण था कि गांधी निष्ठावान हिन्दू होते हुए भी हिन्दुत्व की संकीर्णताओं से मुक्त रहें, प्रबल देश भक्त होते हुए भी संकुचित देशाभिमानी नहीं बने, हरिजनों के परम मित्र होते हुए भी सवर्णों के प्रति विद्वेष नहीं

रखा और अंग्रेजी शासन से सदैव संघर्ष करते हुए भी अंग्रेजों से कभी घृणा नहीं की। गांधी ने बुराई से संघर्ष किया, बुरे आदमी के लिये दुर्भावना नहीं रखी। असल में उसे मानव की अन्तर्निहित साधुता में अखंड विश्वास था उसके अनुसार, मानवों के बीच प्रेम नैसर्गिक एवं स्वाशाविक है। हां झंझट झगड़े की वजहें हुआ करतो हैं। यदि हम एक ऐसी मानवीय समाज—व्यवस्था का निर्माण कर विग्रह के कारणों को दूर कर सकें तो मानव मूल्यों का ह्रास अवश्य रुक जायेगा। आध्यात्मिक और नैतिक अभ्युत्थान के अलग से बड़-बड़े साइन बोर्ड लगाने एवं उनके आन्दोलन खड़े करने से मानव—मूल्यों का ह्रास नहीं रुक सकता। जैसा प्रारम्भ में निवेदन किया था कि आज साम्यवाद लड़ने का भी अमरीकी सी, आई. ए. द्वारा शिखंडीनुमा तरीका (एम. आर. ए) प्रति क्रियोत्पादक Counte Productive) हागा। दुर्भाग्य से जनतन्त्र का सबसे बड़ा भौगोलिक क्षेत्र संयुक्त राज्य अमरीका विश्व में अधिनायकवादी सत्ता का ही पृष्ठ पोषण करती रही है, चाहे वह भारत—पाक के बीच पाकिस्तान को मदद देने का हो, या जेरेन्डा, एल सल्वाडोर, ब्राजिल आदि देशों की जनवादी सरकारों के खिलाफ उन सरकारों को उलटने का सवाल हो। उसी तरह आनन्द मार्ग, जय गुरुदेव, सांईबाबा ब्रहम कुमारी गायत्री यज्ञ, तथा अन्य धार्मिक पुरातनवादी संस्थाओं के द्वारा नैतिक-आध्यात्मिक उन्नयन के कामों के विषय में गंभीरता पूर्वक चिन्तन करना होगा कि समाज के ज्वलंत आर्थिक-राजनैतिक-सामाजिक समस्याओं के समाधान के बिना नैतिक उन्नयन का विचार एक दिवास्वप्न रहेगा। आधुनिक भारत में अध्यात्म के नाम पर तंत्रवाद और नैतिकता के नाम पर मात्र धार्मिक एवं नैतिक प्रवचन का ज्वार उठ रहा है। लेकिन इस तथा-कथित नैतिक-आध्यात्मिक-धार्मिक घटाटोप से सामाजिक क्रान्ति की धार कुंद करने का दुष्चक्र वृथा होगा। आग पर राख डाल देने से आग नही बुझती है, वह दब जाती है। अतः नैतिक मूल्यों के ह्रास को रोकने के लिये राजनीति का कायाकल्प सोचना होगा। भ्रष्ट से भ्रष्ट राजनेता इन नैतिक गुरुओं से आशीर्वाद ले जाय, इससे तो नैतिकता का राजनीतिकरण होता है, राजनीति का अध्यात्मीकरण नहीं। राजनीति कोई अस्पृश्य वस्तु नहीं जिसे हम छुएं नहीं। याद रखें—"सर्वे धर्मा: राजधर्मा निमग्नाः।" यह आवश्यक

नहीं कि राजनीति के पर हम जाय हो, लेकिन राजनीति एवं राजनेताओं पर यदि नैतिक एवं धार्मिक नेता अपनी कड़ी निगाह एवं कठोर अनुशासन नहीं रक्खें तो राजनीति उनका भी शोषण करने से नहीं चूकेगी। राजनैतिक भ्रष्टाचार, सिद्धान्तहीन राजनीति से उत्पन्न दल-बदल की व्याधि, सम्प्रदाय, एवं जाति, तथा पैसे की थैली एवं बन्दूकों की नोक पर वोट प्राप्ति के खिलाफ जब तक जेहाद नहीं बोला जायेगा, नैतिक मूल्यों के उन्नयन की बात मृग-- मरीचिका ही रहेगी। इसी प्रकार आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूढ़ियों पर कठोर से कठोर प्रहार करने पड़ेंगे। नैतिक उत्थान के आन्दोलन एवं आर्थिक क्षेत्र में, मिलावट, जमाखोरी, चोर-बाजारी साथ-साथ नहीं चल सकते, दहेज शराब, अस्पृश्यता एवं साम्प्रदायिक विद्वेष के साथ धर्म की बातें नहीं हो सकती। आदि-आदि।

यानी नैतिक उन्नयन के लिये कोई शार्ट कट नहीं है। इसके लिये समाज का समग्र—परिवर्तन परमावश्तक है। समाज परिवर्तन को दर किनार रखकर हम नैतिक अभ्युत्थान की चर्चा कर स्वयं अपने को धोखा देंगे। मानमानवीय मूल्य और समाज के अन्त: सम्बन्ध को हम जितनो दूर तक विचार एवं आधार में स्वीकार कर सकगे, उसी मात्रा में मानवीय मूल्य की प्रतिष्ठा होगा, मूल्यों के पुर्नस्थापना से ही विश्वशान्ति सम्भव हो सकती है। एवं उसी परिणाम में भी यह गोष्ठी भी सफल होगी।

❀ ❀

श्रीमद्भगवद्गीता में साँख्य-योग-पदार्थ

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी

स्वामी केशवानन्द योग संस्थान,
८/३ रूपनगर दिल्ली-११०००७

भारतीय दर्शन की परम्परा में सांख्यपद से सामान्यतः वह चिन्तन ग्रहण किया जाता है, जिसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं ईश्वर कृष्ण के अनुसार महर्षि कपिल ने जो तत्वचिन्तन किया उसे अपने शिष्य कृपा करके आसुरि को प्रदान किया। आचार्य असुरो से यह चिन्तन पचशिख को प्राप्त हुआ। आचार्य पंचशिख ने इस चिन्तन को पूर्ण व्यवस्था दो और उसका विस्तार किया। आचार्य पंचशिख के अनेक शिष्य थे जिसके द्वारा सुदीर्घ शिष्य परम्परा चली। इसी परम्परा में ईश्वर कृष्ण नामक एक आचार्य हुए हैं। इन्होंने सांख्यदर्शन के चिन्तन को सत्तर (७० कारिकाओं में निबद्ध कर दिया था[4] जिसे सांख्य परम्परा का सबस प्राचीन ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। इस दार्शनिक चिन्तन परम्परा के अनुसार काय कारण रूप समस्त जगत् सत् है। यहां किसी नवीन पदाथ की उत्पत्ति होती है, यह स्वीकार नहीं है। नवीनता तो केवल परिणाम के कारण दिखाई पड़ती है। इस दार्शनिक चिन्तन परम्परा, जिसे प्राय: सांख्यशास्त्र या सांख्दर्शन नाम से ही

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरये नुकम्पया पददो।
आसुरिरपि पंचशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥
शिष्यपरम्परया गतमीश्वरकृष्णेन चेतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम्॥

— सांख्यकारिका-७०-७१

स्मरण किया जाता है, में निम्नलिखित पच्चीस तत्वों का परिगणन(संस्थान) किया गया है। (१) मूल प्रकृति, (२) महत्, (३) अहंकार, (४-८) पांच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, त्वचा नेत्र जिह्वा या रसना घ्राण), (६-१३) पांच कर्मेन्द्रियां (वाक्, हाथ, पैर, पायु अर्थात् मल निकालने की इन्द्रिय, और उपस्थ), (१४) उभयेन्द्रिय अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों की सहायता करने वाली इन्द्रिय मनस्, (१५-१६) पांच तन्मात्राएं अर्थात् शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा, तथा इन पांचों तन्मात्राओं से उत्पन्न होने वाला, (२०-२४) पांच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी तथा (२५) पुरुष । इन पचीस तत्वों में प्रकृति (मूलप्रकृति) और उसके तेइस विकार जड़ है जबकि पचीसवां तत्व पुरुष चेतन है । यही तत्व भोक्ता है। प्रकृति के संपूर्ण विकार इस चेतन तत्व पुरुष के भोग की दृष्टि से सम्पन्न होते हैं, तथा प्रकृति के इस चक्र को जान लेने पर उस पुरुष विशेष के लिये प्रकृति विरत हो जाती है,[1] फलत: उसे अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है।

इसी प्रकार योग शब्द महर्षि पन्तजलि द्वारा प्रवचित उस दार्शनिक चिन्तन परम्परा का बोध कराता है, जिसमें एक विशेष प्रकार की साधनाओं के माध्यम से चित्त की वृत्तियों का निरोध करके समाधि अर्थात् चित्त की पूर्ण स्थिरता प्राप्त करके कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है. ऐसा स्वीकार किया जाता है । पतन्जलि के अनुसार चित्त या मन की पांच वृत्तियां हैं— (१) प्रमाण अर्थात् यथार्थ ज्ञान, (२) विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान (३) विकल्प अर्थात् शब्दों द्वारा मानस में उत्पन्न (कल्पित) पदार्थ रूपज्ञान जबकि वास्तविकता उस पदार्थ की नहीं है, शशशृंग आकाश कुसुम आदि। (४) निद्रा अर्थात् चित्त की वह स्थिति जब वह किसी भाव पदार्थ के सम्पर्क में नहीं है, किन्तु स्थिर भी नहीं है। मन की यह स्थिति नींद की स्थिति में हुआ करती है। तथा (५) स्मृति अर्थात् पूव समय में अनुभव किये हुए चित्त में पुन: उपस्थिति। इसे सामान्य भाषा में स्मरण कहते हैं।

---

(१)— दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ।। -सांका०-६६

योग के अनुसार चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करने के अनेक उपाय हो सकते हैं, इनमें अभ्यास और वैराग्य, ईश्वर प्रणिधान प्राणायाम विषयवती प्रवृत्ति एवं किसी भी अभिमत (इष्ट) देव या पदार्थ का ध्यान इनमें मुख्य हैं।[1] यद्यपि अभ्यास और वैराग्य को पतन्जलि ने विशेष महत्व दिया है। अभ्यास के क्रम में उन्होंने योग के आठ अंग बतायें है: यह नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समधि।[2] योग के इन अंगों में यह अहिंसा सत्य आस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भेद से पांच प्रकार के, तथा नियम भी शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान भेद से पांच प्रकार के है। पतन्जलि के अनुसार आसन के अनेक प्रकार हैं किन्तु वे प्राणायाम के उपकारक है, अथवा आसन सिद्धि के बाद प्राणायाम और प्रत्याहार के बाद ही चित्त को किसी देश-विशेष में बांधने का क्रम बनता है। इसे धारण करते हैं। पतन्जलि के अनुसार देश विशेष में बंध कर जब वहां एकतान होकर स्थिर होने लगता है, तब उसे ध्यान कहते हैं, तथा ध्यान के बाद चित्त स्वरूपशून्यता की स्थिति में पहुंच जाता है, तब उसे समाधि कहते हैं। इसे ही योग कहते हैं।

श्रीमद्भगवद् गीता में इन सांख्य और योग पदों का प्रयोग अनेक बार है। एक स्थान पर तो वहां यह भी स्वीकार किया गया है कि साँख्य और योग ये दोनों परस्पर अभिन्न है। इनमें भेद की कल्पना केवल अज्ञानी जन ही करते है। वस्तुत: इनमें से किसी एक को भी व्यवहार के रूप में अपनाकर कोई दोनों के फलों को प्राप्त कर सकता है।[3]

२- अभ्यासवैराग्यां तन्निरोध:,ईश्वर प्रणिधानाद्वा, प्रच्छदन विधारणाभ्याम् वा प्राणस्य, विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनस: स्थिति निबन्धिनी, यथाभिमत ध्यानाद्वा। योगसूत्र-१-१२, २३, ३४, ३५, ३६।

२- यम नियम-आसन-प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। —यौ० सू०-२-२६।

३- सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत् सांख्यै: प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते॥

—भगवद्गीता ५, ४-५

भगवद्गीता के उपर्युक्त संदर्भ में सांख्य और योग पदों के अर्थ पूर्वनिर्दिष्ट सांख्य और योगदर्शनों में प्रतिपादित तत्वज्ञान एवं साधना है ? अथवा उससे भिन्न कुछ अर्थ विशेष है ? यह प्रश्न ही प्रस्तुत निबन्ध का विचारणीय विषय है। सामान्यत: लोग सहज भाव से सांख्य और योग पदों का उपर्युक्त अर्थमानकर इस श्लोक को (गीता के अध्याय पांच के चतुर्थ श्लोक) को उद्धृत करते हुए दोनों का एकता प्रतिपादित करते हैं । स्वामी हरिहरानन्दारण्य ने भी योग भाष्य पर टीका (भास्वतीटीका) लिखते हुए ऐसा ही किया है, किन्तु यह कितना उचित है, इसका निर्णय विद्वानों को स्वयं विवेकपूर्वक करना है।

उपर्युक्त प्रश्न पर विचार के प्रसंग में यह एक प्रश्न ही सहज भाव से उठता है कि क्या सांख्य अर्थात् सत्कार्यवाद परिणामवाद या प्रकृति पुरुष के भेद जान लेने पर आसन और प्राणायाम में, धारणा-ध्यान और समाधि में क्या स्वत: सफलता मिल जाएगी ? अथवा योग-साधना अर्थात् आसन प्राणायाम-प्रत्याहार (इन्द्रियदमन) तथा धारणा-ध्यान और समाधि इनके अभ्यास से सांख्य का तत्वज्ञान, सत्कार्यवाद परिणामवाद और प्रकृति-पुरुष का भेद बोध हो सकेगा ? योग सिद्धि अर्थात् समाधि सिद्धि से प्राप्त ऋतम्भरा प्रज्ञा यदि प्रकृति पुरुष भेद के प्रतिपादक या परिणामवाद और सत्कार्यवाद के प्रतिपादक शास्त्र अर्थात् सांख्यशास्त्र के अध्ययन से भी प्राप्त हो सकती है। यह स्वीकार करना चाहें तो पतन्जलि को ऋतम्भरा प्रज्ञा का विवरण असत्य होने लगेगा जहां कहा है कि—'वह प्रज्ञा श्रुतप्रज्ञा' अर्थात् किसो शास्त्र के पढ़ने से प्राप्त प्रज्ञा से सर्वथा भिन्न हैं।[1] अत: यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि दर्शन शास्त्र की परम्परा में प्रयुक्त सांख्य और योग पदों का तात्पर्य गीता में प्रयुक्त सांख्य और योग पदों के तात्पर्य से भिन्न होना चाहिए। इस भेद को समझने के लिये हमें भगवद्गीता में ही सांख्य और योग पदों के तात्पर्य के संबन्ध में संकेतों की खोज करना उचित होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में अर्जुन के शोक और युद्ध न करने के पक्ष में उसके तर्क को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा की नित्यता

१- श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। —यो०सू० १.४९

और शरीर की अनित्यता के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक उपदेश किया है, और कहा है कि इसे न शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती हैं, न जल गीला कर सकता है और वायु न उड़ा सकती है। यह आत्मा सर्वव्यापक होकर स्थिर और अचल है, इसे काटना जलाना गीला करना सुखाना सम्भव ही नहीं है।[1] यदि इसे उत्पन्न होने वाला और मरने वाला भी तुम समझते हो तो जो उत्पन्न हुआ उसका नाश (मृत्यु) निश्चित है, और जो मृत होता है उसका पुनः जन्म निश्चित हैं, अतः इस स्थिति में भी शोक करना उचित नही है।[2] वस्तुतः सुख दुःख के प्रति हानि और लाभ के प्रति जय, और पराजय के प्रति उदासीन रहना चाहिए।[3] इन तथ्यो का प्रतिपादन करने के बाद भगवान् कृष्ण कहते हैं कि यह उपदेश मैंने सांख्य के अनुसार दिया है। (एषा ते भिहिता सांख्ये...... गीता २. ३९

आत्मा की नित्यता और अविकारिता को सांख्यदर्शन में स्वीकार किया गया है इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु साथ ही अविद्या की परिभाषा करते हुये योगदर्शन में भी इस तथ्य की ओर संकेत किया है।[4] न्याय वैशेषिक या वेदान्त में भी आत्मा को नित्यता ही मानी गई है. अतः इस तथ्य को अर्थात् आत्मा की नित्यता को सांख्य के वैशिष्ट्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता यह। आत्माको सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक तथा स्थाणुक-अचल भी मानना है। कपिलप्रवर्तित सांख्य में आत्म सर्वव्यापक नहीं है। जीवात्मा

१- नैनं छिन्दति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ गीता २. २४॥

२- जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे नत्वं शोचितुमर्हसि॥ गीता २. २७॥

३- सुख दुःख समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ गीता २. ३८॥

४- अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या।
—यो० सू० २. ५

को सर्वव्यापक न्याय वैशेषिक में माना गया है। वेदान्त का ब्रह्म भी सर्व-व्यापक है। अतः आत्मा का सर्वव्यापकता के पक्ष को कपिल के सांख्य से जोड़ा नहीं जा सकता।

इसी प्रकार उत्पन्न पदार्थ अवश्य नष्ट होता है, और मृत का पुन-र्जन्म होता है यह तथ्य भी कपिल के सांख्य का नहीं है। वहाँ प्रकृति निवृत्त प्रसवा होगी तो सदा के लिये होगी अन्यथा होगी ही नहीं अर्थात् कपिल सांख्य के अनुसार प्रकृति पुरुष विवेक होने पर प्रकृति उस पुरुष विशेष के लिये भोग साधन निवृत्त कर देती है अन्यथा प्रकृति का क्रम चलता ही रहता है। हां न्याय दर्शन में अवश्य ही प्रेत्यभाव (मृत्यु) की परिभाषा को पुनरुत्पत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] पर पुनः जन्म अवश्य होता है यह कथन गौतम के न्यायसूत्र के अधिक निकट है, सांख्यदर्शन में तो इस प्रत्यक्ष तथा कहीं स्वीकार नहीं किया है, यह दूसरी बात है कि इस तथ्य के समर्थन में प्रयास करने पर कुछ प्रमाण प्राप्त हो जाए।

सुख और दुःख लाभ और हानि तथा जय और पराजय में समभाव रखने की बात प्रत्यक्षतः गीता की अपनी है, यह उपनिषदों का रहस्य है। योग में वैराग्य शब्द के द्वारा इसकी ओर संकेत अवश्य हुआ है । तत्वज्ञान के बाद यह स्थिति यह स्थिति प्राप्त हो सकती है, तथा यह तत्वज्ञान किसी भी दर्शन परम्परा से प्राप्त हो कोई अन्तर नहीं आएगा । इस विश्लेषण के बाद यह कहा जा सकता है कि गीता में सांख्य के नाम से जिस जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस प्रकरण में हुआ है, वह कपिल प्रवर्तित सांख्य का साक्षात् प्रतिपाद्य नहीं है।

इसी प्रकरण में योग का जो प्रतिपादन हुआ है, वह भी अष्टांगयोग के अन्तर्गत किसी अंग में समाहित नहीं किया जा सकता, न वह चित्तवृत्ति निरोधरूप ही है। योग बुद्धि की चर्चा करते हुए प्रतिपक्ष के रूप में जिस वेदवाद की, कामनाओं के साथ कर्म की, स्वर्ग देने वाले, कर्म की, ज्ञान आदि

१- पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। —न्याय सूत्र १. १६

से युक्त कर्मफल की चर्चा हुई है[1] वह पूर्वमीमांसा का पक्ष है। तथा पूर्वमीमांसा मुख्यत: उत्तरमीमांसा का प्रतिपक्ष स्वीकार किया जाता है। यह तो बात प्रतिपक्ष की हुई। सिद्धान्त पक्ष के रूप में इस प्रकरण में असंग भाव का, अनासक्ति का, सिद्धि और असिद्धि में समभाव का प्रतिपादन करते हुए कर्मयोग का प्रतिपादन हुआ है। कर्मयोग का तात्पर्य है, फल की कामना न रखते हुए कर्म में प्रवृत्त होना, कर्मफल के प्रति पूर्णतया अनासक्ति।[2] इसे ही स्पष्ट करते हुए भगवान् कृष्ण ने समस्त कामनाओं का त्याग, आत्मतुष्टि, उद्वेग, स्पृहा, राग द्वेष भय क्रोध आदि से पूर्ण विरति पूर्ण इन्द्रिय सयम एवं प्रभु के प्रति समग्र भाव से समर्पण को अवश्य स्वीकार किया है।[3] इस साधना का फल होता है, समस्त कामनाओं का उपशम, ममता अहंकार का पूर्णत: अभाव और पूर्ण शान्ति की उपलब्धि।[1] वहां इसे ब्राह्मी स्थिति भी कहा

१- यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित:।
वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन: ॥

२- कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भु: मा ते संगोऽस्त्वकर्माणि ॥
योगस्थ: कुरु कर्माणि संगंत्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। गीता २. ४७-४८

३- प्रजहाति यदाकामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना सुखेषु विगतस्पृह:।
दु:खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
तानि सर्वाणि सयम्य युक्त आसीत मत्पर:।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ -गीता २. ५५,५६,६१

१- आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
विहाय कामान्य: सर्वान्पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
निर्ममो निरहंकार: स शान्तिमधिगच्छति ॥ -गीता २. ७०,७१

गया है जिसे प्राप्त करने के समनंतर ही साधक को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।[2]

पतन्जलि प्रवर्तित योगशास्त्र में अभ्यास के साथ जिस वैराग्य को स्वीकार किया गया है उसकी परिभाषा[3] के अन्तर्गत यद्यपि समभाव अनासक्ति का अन्तर्भाव किया जा सकता है, आत्मतुष्टि तथा उद्वेग स्पृहा राग द्वेष भय क्रोध आदि से पूर्ण विरति को उसके प्रभाव के रूप में सिद्ध भी किया जा सकता है, किन्तु अष्टांग योग की अन्तरंग साधना धारणाध्यान और समाधि[4] से भी उसका सम्बन्ध सिद्ध किया जा सके यह सम्भव नहीं लगता। इतना ही नहीं योग साधना की स्थिति अर्थात् निर्जीव समाधि की स्थिति में तो किसी प्रकार के कर्म सम्भव नहीं हैं, क्योंकि वहां तो धारणा ध्यान और समाधि की साधना होने के कारण बहिरंग हो जाते हैं।[5] यह भी स्मरणीय है कि वैराग्य की परिभाषा में लौकिक और वैदिक कर्मों को प्रतिपक्ष के रूप में अवश्य स्वीकर किया गया है, किन्तु कर्म के प्रति, उसके फल के प्रति अनासक्ति को वैराग्य के अन्तर्गत समाहित करने का कोई संकेत योगसूत्र के व्याख्याकार व्यास, भोज वाचस्पति विज्ञान भिक्षु आदि ने नहीं दिया है। इसके इसके अतिरिक्त चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध की स्थिति में कर्म का हो सकना भी संभव नहीं है, उस स्थिति में गीता के योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनन्जय[1] इस वचन की संगति भी हो सकेगी क्या ?

अत: गीता में प्रतिपादित योग को पतन्जलि के योग से अभिन्न मान सकना सम्भव नहीं है। यहां इन दोनों ही पदों का कुछ भिन्न अर्थ होना

२– एषा ब्राह्मी स्थितः पार्थ नैनां प्राप्त विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।। गीता २. ७२

३– दृष्टानुश्रुविकिविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। –योगसूत्र १ १५

४– त्रयमन्तंरगं पूर्वेभ्यः। योग सूत्र ३. ७

५– त्रयमन्तरंगम्पूर्वेभ्यः, तदपि बहिरंगनिर्जीवस्य। ३. ७, ८

१– गीता, २, ४८

चाहिए। यह भिन्न अर्थ क्या है इसका उत्तर भी हमें गीता में ही खोजना चाहिए। गीता में सांख्य और योग के उपर्युक्त विवरण के अनन्तर तृतीय अध्याय के प्रथम और द्वितीय श्लोकों के द्वारा अर्जुन ने कुछ पूछना चाहा है, जिसके उत्तर में भगवान् कृष्ण ने स्वीकार किया है कि लोक में दो प्रकार की निष्टाएं विदित है, एक ज्ञानयोग को और दूसरी कर्मयोग की। और यही उन्होंने ज्ञान की निष्ठा को सांख्य की निष्ठा एवं कर्मयोग की निष्ठा को योग की निष्टा कहा है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि गीता में सांख्य का तात्पय कर्मयोग लेना चाहिए। इससे पूर्व द्वितीय अध्याय में भी आत्मा की नित्यता देह की अनित्यता तथा देह और (आत्म देही) की चर्चा करके ही ऐषा तेऽमिहिता सांख्ये[3] इत्यादि कथन किया गया था।

योग निष्ठा की चर्चा करते हुए भगवान् कृष्ण ने कर्मयोग का विस्तृत विवेचन किया है। तथा इस प्रकरण में स्वीकार किया है। कर्म का एक क्षण के लिये भी त्याग सम्भव नहीं है। कर्म तो विवश होकर भी करने पड़ते हैं, अतः कर्मेन्द्रियों का संयम करते हुए निष्कर्म होने का प्रयत्न स्पष्ट मिथ्याचार है।[4] कर्मयोग तो यह है कि मुक्त संग होकर कर्मो को किया जाये।[1] जो व्यक्ति अनासक्त भाव से कर्मों का सम्पादन करता है, वह परम पद प्राप्त करता है।[2] अतः इन्द्रियों को मन के पूर्णतः अधीन रखते हुए अनासक्त भाव

१- लोकेऽस्मिन्द्विविद्या निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ —गीता ३, ३

३- गीता, २, ३९॥

४- कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य नास्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ —गीता ३.६

१- यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारम्भतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियेः कर्मयोगमसवक्तः स विशिष्यते।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचार॥ —गीता ३. ७, ९

२- तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचन कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥ —गीता ३. १९

से कर्म करना चाहिए। इस योग साधना को समझाते हुए कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि कामनाएं रजोगुण का कार्य है, क्रोध भी उसका सहचारी है। इन दोनों के वशीभूत होकर जब मनुष्य कर्म करता है। तो वह बन्धन में पड़ता है। जो काम और क्रोध ज्ञान को भी ढक लेते हैं, इन्द्रियां मन और बुद्धि पर ये आरूढ़ हो जाते है। उस स्थिति में आसक्ति बढ़ जाती है, और उसके प्रभाव में रह कर कर्म करते हुए मनुष्य बन्धन में पड़ता है। अत: कर्मयोगी को चाहिये कि वह इन्द्रिय निग्रह करे।[3] जिसे पतन्जलि ने प्रत्याहार के नाम से स्मरण किया है। इसके फलस्वरूप मन का निग्रह किया जा सकता है मन के निगृहीत होने पर बुद्धि प्रसाद होता है, अर्थात् बुद्धि निर्मल होकर स्थिर हो जाती है, और उस स्थिति में पहुंचने पर साधक को आसक्ति समाप्त हो जाती है, उसे कर्म योगसिद्ध हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार अनासक्ति पूर्वक किया कर्म ही कर्मयोग है, इसे ही योग भी कहते हैं। इस तथ्य को पुष्ट करते हुए चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् कृष्ण ने कर्मयोग के इतिहास की ओर इंगित किया है उनका कहना है कि सृष्टि के आदि में विवश्वान् को इस कर्मयोग का उपदेश स्वयं भगवान् ने दिया था। विवश्वान् ने अपने पुत्र को उसे सिखाया। तथा मनु से इसे इक्ष्वाकु ने प्राप्त किया था। राजर्षियों में चिरकाल तक यह कर्मयोग (योग) प्रचलित रहा था, किन्तु कालान्तर में वह लुप्त हो गया था, जिसका पुन: उपदेश (इससे तुरन्त पूर्व अर्थात्) गीता के तृतीय अध्याय में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दिया है।[1] इस इतिहास के संकेत में कृष्ण ने योग शब्द का ही प्रयाग किया है, जबकि तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में योग

४– गीता ३, ३७स४१

१- इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवो ब्रवीत्।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदु:।
स कालेनेह महता योगो नष्ट: परन्तप:॥
एवायं मया ते य योग: प्रोक्त: पुरातन:॥ ४, १-३॥

ग्रौर कर्मयोग दोनो शब्दों का प्रयोग हुग्रा था।[2] इससे यह वीकार करने में ग्रापत्ति न होनी चा हुए भगवद् गीता में योग शब्द का प्रयोग कर्मयोग के दिये हुग्रा है। ग्रौर कर्म योग का तात्पर्य हैं, ग्रनासक्त भाव से सिद्धि ग्रौर ग्रसिद्धि की, सफलता ग्रौर ग्रसफलता की ग्रोर ध्यान दिये विना कर्म को सम्पन्न करना।[3] इसी का नाम है कर्म में कुशलता, ग्रौर कर्म में कुशलता ही योग है। ग्रसंगभाव को कर्म में कौशल क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिये (लौकिक उदाहरण को देखना पर्याप्त होगा) उसमें ग्रासक्ति का कहीं स्थान होना ही नहीं है। ग्रात्मा नित्य है ग्रविकारी है, उसके नाश का उसमें विकार का प्रश्न है ही नहीं, ग्रौर शरीर ग्रादि जगत् के पदार्थ ग्रस्थिर नाशवान् है, ग्रतः उनके प्रति मोह कैसा है। स्वयं गीता में भी इस तत्वज्ञान का परिणाम हमें कोई वस्तु या जानकारी किसी स्थान विशेष से प्राप्त करनी है। एक व्यक्ति उसके लिये चलता है, किन्तु मार्ग को दुर्गम होने, हिंसक पशु चोर डाकू का भय मार्ग में है उसे देखकर वह मार्ग में ही भयभीत होकर ग्रपने उद्देश्य से विरत हो जाता है ग्रौर ग्रपनी जान बचाकर घर में बैठ जाता है। दूसरा व्यक्ति उसके कार्य के लिये चलता है, भय की ग्रोर ध्यान दिये बिना ग्रपनी यात्रा सम्पन्न करेने का प्रयत्न करता है, किन्तु काय सम्पन्न होने से पूर्व ही वह डाकुग्रों द्वारा या शत्रु द्वारा पकड़ लिया जाता है ग्रौर कार्य सम्पन्न नहीं कर पाता। तीसरा व्यक्ति इसी कार्य में प्रवृत्त होता है, निर्भय होकर ग्रागे बढ़ता है, ग्रभीष्ट वस्तु या सूचना लेकर वह लौटता है, मार्ग में चोर मिलते हैं उनसे बचता है डाकू या शत्रु मिलते हैं, उनके समक्ष वह दीन ग्रकिंचन बन कर ग्रथवा प्रेमत्व सा व्यवहार करके उनकी ग्रपेक्षा का पात्र बनता है, वे उसे देख करके भी मिल करके भी उसे कुछ बाधा नहीं डालते। ग्रौर वह निर्विघ्न भाव से ग्रपने स्थान पर ग्रभीष्ट वस्तु या सूचना

२- ज्ञानयोगेन साँख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३.३

३- कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मकर्मफलहेतुर्भूः भाते संगे स्त्वकर्माणि।
योगस्थकुरु कर्माणि संगं व्यक्त्वा धनन्जय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते॥ — गीता २.४७-४८

के साथ पहुंच जाता है । क्या इस तृतीय प्रकार के व्यक्ति को आप कुशल नहीं कहेंगे ? कर्म करने में भी पाप-पुण्य सुख और दुःख स्वर्ग और नरक का भय लगा है, एक व्यक्ति इन द्वन्द्वों के भय से कर्म में प्रवृत्त ही नहीं हो पाता जब अनायास ही अथवा विवश भाव से कर्म होते हैं, तब व्याकुल और पीड़ित होता है, दूसरा व्यक्ति कर्म करता है, पूर्ण मनोयोग से करता है, किन्तु उनके द्वारा बाँध लिया जाता है सुख-दुख के द्वन्द्वों में फंसकर निकल नहीं पाता। किन्तु कुशल व्यक्ति अनासक्त होकर असंगभाव से करता है, शुभ अशुभ फलों के प्रति निरन्तर उदासीन रहता है, प्रभु के प्रेम में मत्त होकर सब कुछ उसे ही समर्पित करता हुआ आगे बढ़ता है और कर्मो में फंसे बिना अपनी जीवन यात्रा पूरी कर लेता है, क्या यह कौशल नहीं है ? निश्चय ही यह कौशल है, इसलिये योग हैं। इसी कर्म प्रक्रिया को कर्मयोग कहते हैं।

इसी प्रकार कर्म में अनासक्ति की साधना का नाम है योग एवं आत्मा की नित्यता, अविच्छेद्यता, अपरिवर्त्तनीयता का तथा आत्मा से भिन्न देह आदि सभी जगत् के पदार्थों की अनित्यता विच्छेद्यता और उनकी नित्य-परिवर्तनशीलता के पूर्ण बोध को श्रीमद्भगवद् गीता के अनुसार सांख्य कहा जाता है। ये दोनों ही मार्ग परस्पर पूर्णतया भिन्न मार्ग है, एक मार्ग कर्म का है और दूसरा मार्ग ज्ञान का है।

अब वह मुख्य प्रश्न समाधान के लिये रह जाता है कि सांख्य और योग वस्तुतः एक कैसे हैं ? दोनों में किसी एक पर भी चलने वाला दोनों के द्वारा प्राप्त होने वाले फल को कैसे प्राप्त करता है।[1]

इसका उत्तर अत्यन्त स्पष्ट और सहज है। कर्मयोग अथवा योग के लिये अनासक्ति सर्वप्रमुख साधना है, कर्म के प्रति कर्मफल के प्रति अनासक्ति भाव की सिद्धि हो जाने पर सफलता और असफलता में समभाव स्वाभाविक

१- सांख्ययोगो पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता: ।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयो विन्दते फलम् ।।
यत्सांख्यें प्राप्यते स्थानं तद् योगेरपि गम्यते ।। गीता
एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति ।। गीता ५. ४-५

रूप से आयेगा जिसे गीता में योग के नाम से, स्थितप्रज्ञभाव के नाम से स्वीकार किया गया है। सांख्य के नाम से गोता में स्वीकृत तत्वविवेक जिसमें आत्मा की नित्यता और अविकारी तथा समस्त विश्व प्रपञ्च और शरीर आदि को अवश्यमेव नष्ट होने वाला कहा गया है, के प्राप्त हो जाने पर सिद्ध हो जाने पुर भी तो समस्त विश्व प्रपन्च के प्रति अनासक्ति स्थिर होना ही है। जिसके मानस में—

> ना सतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्व दर्शिभिः। (२, १६)
> अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता: शरीरिणः।
>
> अनासिनो प्रेमयस्य (तस्माद्युद्धस्व भारत) (२.१८)
> न जायतेम्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भवतिा वा न भूयः।
> अजो नित्य, शाश्वतो: यं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२.२०
>
> वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
> तथा शरीराणि विहायजीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ (२.२२)
>
> अच्छेद्व्योऽयमदाह्योऽयमक्लेयोऽशोष्य एव च।
> नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

इत्यादि तत्वविवेक सुस्थिर हो चुका है, प्रतिष्ठित हो चुका है; उसमें आसक्ति का कहीं स्थान होना ही नहीं है। आत्मा नित्य है अविकारी है, उसके नाश का उसमें विकार का प्रश्न है ही नहीं, और शरीर आदि जगत् के पदार्थ अस्थिर नाशवान् है, अतः उनके प्रति मोह कैसा है। स्वयं गीता में इस तत्व ज्ञान का परिणाम समभाव स्वोकार किया गया है, जिसके फलस्वरूप विवेकी पुरुष सुख और दुःख में समभाव प्राप्त कर लेता है, और जब उसे इस समभाव की सिद्धि होती है तभी उसे अमृतत्व भी मिल जाता है। (समदुःखसुखं धीरं सोऽमृत्वाय कल्पते २.१५)। कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्य का तत्वज्ञान भी अन्ततः अनासक्ति देता ही है। और इस प्रकार अन्तिम परिणाम सांख्य का और योग का (कर्मयोग का अनासक्ति योग का) एक ही होता है, भिन्न नहीं। इसीलिये भगवान् कृष्ण ने कहा है एकमप्यास्थितः सम्यगुभयो विन्दते फलम्।

इतना अवश्य है कि सांख्य के तत्वज्ञान के फलस्वरूप, देह आदि की अनित्यता के ज्ञान के फलस्वरूप कभी मानस् में तामस वैराग्य अर्थात् निष्कर्मण्यता, कर्म के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो जाती है, कर्म से लगाव हट जाता है, जबकि एक क्षण भी कर्म के बिना रह सकना सम्भव नहीं है, फल क्या होता है, उदासीनता से, उपेक्षाभाव से कर्म सम्पन्न होता है, अतः वह कर्म अव्यवस्थित होता है, अनियन्त्रित होता है, बिना ब्रेक की गाड़ी की तरह अथवा जिसका चालक होस में नही है, ऐसी गाड़ी की तरह अनर्थकारी हो जाता है। जबकि योग में, कर्मयोग में, मन और इन्द्रियां अनियन्त्रित नहीं होकर पूर्णनियन्त्रित रहती है, कर्मकुशलता पूर्वक सम्पन्न होते हैं, कर्तव्यभाव से सम्पन्न होते हैं, उदासीन भाव से नहीं[1] अनासक्ति यहां कर्म के प्रति नहीं फल के प्रति होती है। सिद्धि और असिद्धि दोनों स्थितियों में समभाव रहता है। यही दोनों में अन्तर है। इसी कारण निष्काम भाव से अनासक्त होकर कर्म करने वाला व्यक्ति कामनाओं के विलय के कारण निस्पृह होने के कारण अहन्ता (अहंकार) और ममता से रहित होने के कारण परम शान्ति का अधिकारी होता है, इसीलिये भगवान् कृष्ण ने कहा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामायं प्रविशन्तिसर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ —गीता २. ७०-७१ ॥

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है, कि श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य पद 'ज्ञानयोग' का एवं योग पद 'कर्मयोग' का बोधक है, दोनों साधना के पृथक्-पृथक् मार्ग हैं, किन्तु दोनों ही मार्ग अमृतत्व को प्राप्त कराने वाले हैं किसी भी मार्ग सें चले पहुंचना वहीं है, लक्ष्य दोनों मार्गों का एक है, फल भी दोनों मार्गों का एक है। अतः ठीक ही कहा है—

सांख्ययोगो पृथग्बालाः प्रदवन्ति न पण्डिताः
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयो विन्दते फलम् ।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च यः पश्यति स पश्यति ॥ —गीता ५. ४-५ ॥

१— योगः कौशलम् ॥

युगों से चली आ रही शिक्षा : एतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

प्राचीन शिक्षा के प्रतिमान

—डॉ० हर्षनारायण
पूर्व अध्यक्ष दर्शन विभाग, शिलांग विश्वविद्यालय

वैदिक जीवन-दृष्टि के अनुसार मनुष्य के तीन जन्म होते है, तीन प्रकार के जन्म, जिन्हें 'शतपथ ब्राह्मण' में इस प्रकार निरूपित किया गया है-त्रिह वै पुरुषो जायते । एतन् नु एव मातुश् चाधि पितुश्, चाग्रे जायते, अथ यं यत्र उपनयति स यत् यजते तद् द्वितीयं, जायते, अथ तत्र म्रियते तत्रैना-मग्नावम्यादधति स यत् ततस् सम्भवति तत् तृतीयं ।[1] अर्थात् प्रथम जन्म माता-पिता के प्रति माता के गर्भ से होता है । यह जन्म सर्वसाधारण है, सभी मनुष्यों का होता है । द्वितीय जन्म यज्ञ द्वारा होता है और तृतीय जन्न पुन-र्जन्म है जो मरने और अग्नि को समर्पित होने के बाद मनुष्य को प्राप्त होता है । बृहन्नारदीय-पुरान में तीन जन्म किंच्दू भेद के साथ कथित है—

'ब्राह्मण:, क्षत्रियो, वैश्यो द्विजा: प्रास्तास् त्रिजास् तथा'
'मात्रतश्, चौपनयाद्, दीक्षाया जन्म वै क्रमात् ।[1] क

यह तीसरा जन्म भी सर्वसाधारण हैं । इनमें से तृतीय जन्म वाच्या-र्थत: जन्मान्तर है, इस जीवन के बाद घटित होने वाला है, अतः प्रथम दो जन्म इस जीवन में महत्वपूर्ण हो जाते हैं । जिनके ये दोनों जन्म सिद्ध हो जाते हैं वे द्विज अथवा द्विजादि कहे जाते हैं और शेष एक जाति । शास्त्रानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाद्विजाति हैं, जबकि शूद्र एकजा एकजाति—

ब्राह्मण:, क्षत्रिया, वैश्यास् त्रयो वर्णा द्विजातय:'
'चतुर्थ एकजातिस् तु शूद्रो नास्ति तु पंचम: ।'[2]

प्रथम जन्म तो सभी प्राणियों का होता है द्वितीय जन्म ही मनुष्य कारक है वास्तविक है, स्थायी महत्व का है—

'आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः'
'उत्पादयति सावित्र्या सा सत्यां सा जरा-मरा ।'[3]

इस द्वितीय जन्म के विषय में अथर्ववेद की काव्यमयी उक्ति है—

'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'
'तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति, तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ।'[4]

अर्थात् आचार्य ब्रह्मचारी छात्र, को, उसका उपनयन-संस्कार करते हुए तीन रात अपने गर्भ में धारण करता है और इस प्रकार से उत्पन्न ब्रह्मचारी को देखने के लिये देवता भी दौड़ पड़ते हैं ।

द्वितीय जन्म की तुलना में प्रथम जन्म का कितना कम महत्व है, यह 'शतपथ ब्राह्मण' के अधोलिखित वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है—

'मनद्धेव वा अस्यातःपुरा जार्न भवति । इदंह्याहुः रक्षांसि
योषितमनुचन्ते, तदुत रक्षास्येव रेत आदधतीति ।
अथात्राद्धा जायते यो ब्रह्मणो यो यज्ञात् । तस्मादपि
राजन्यं वा वैश्या वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्,
ब्राह्मणां हि जायते यौं यज्ञाज् जायते ।[5]

अर्थात् उपनयन अथवा दीक्षान्त के पूर्व जो जन्म हुआ होता है वह वस्तुतः अविनिश्चित ही होता है । कहते हैं कि उस जन्म में राक्षसों के वीर्य का भी सम्मिश्रण रहता है । अतः वास्तविक जन्म वह है जो ब्रह्म (वेद) और यज्ञ द्वारा सम्पन्न होता है । और चूंकि ब्राह्मणक्षत्रिय और वैश्य, ब्रह्म और यज्ञ से भी उत्पन्न होते हैं, अतः क्षत्रिय और वैश्य को भी ब्राह्मण कह सकते है ।

अस्तु छात्र की महिमा अथर्ववेद की उपर्युदाहृत इस उक्ति से भलीभांति प्रकट होती है कि उसे उपनीत होकर निकलते देखने के लिये देवता

दौड़ पड़ते हैं। 'भारद्वाज गृह्यसूत्र' में तो यहां तक कहा गया है कि समावर्तन-संस्कार के पूर्व ब्रह्मचारी प्रातःकाल एक कमरे में बन्द करा दिया जाता था, ताकि उसकी ज्योति सूर्य की ज्योति को लज्जित न कर दे।[6] वस्तुतः विद्यार्थी के मार्ग से राजा भी हट जाता था।[7]

वस्तुतः प्रथम जन्म प्रकृति में होता है और द्वितीय जन्म संस्कृति में, प्रथम जन्म प्राकृतिक होता है और द्वितीय जन्म सांस्कृतिक और संस्कृति ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से भिन्न करती है। वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य का संस्कृति में जन्म उपननय-संस्कार, यज्ञोपवीत-संस्कार से होता है। यह संस्कार संस्कृति शिक्षा, आचार्यकुल अथवा गुरुकुल के लिये प्रवेशपत्र है। यह प्रवेश-पत्र व्रतहीनों के लिये नहीं है, उनके लिये है जो संस्कृति के लिये व्रत लेने को तैयार हों, संस्कृति के प्रति प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध हों, अनृत से सत्य की ओर संक्रमण की निष्ठा रखते हों, जिसका संकेत अधोलिखित वेद-मन्त्र में पाया जाता है।

'अग्ने (व्रतपते) व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं, तन् में राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।'[8]

व्रत से ही दीक्षा प्राप्त होती है, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य—

'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षायाऽऽप्नोति दक्षिणाम्'
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते।'[9]

विद्या का व्रत प्राचीन काल में प्रायः 'द्विजों' (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) के लिये प्रतिपादित था। वस्तुतः उक्त तीन वर्ण द्विज इसी लिये कहलाते थे कि उनका उपनयन, यज्ञोपवीत और व्रत द्वारा दूसरा जन्म सम्पन्न होता था। बोधायन-गृह्यसूत्र रथकार (बढ़ई) के लिये भी उपनयन का द्वार खोलता है।[10] (रथकार वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान का अभिधान है)। महाभारत से सूचना मिलती है कि अति प्राचीनकाल में चण्डालों को भी वेद-श्रवण (वेदाध्ययन) का अधिकार था।

बौद्धायन गृह्यसूत्र—रथकार (बढ़ई) के लिये भी उपनयन का द्वार खोलता है।[10] (रथकार वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान का अभिधान है)।

महाभारत से सूचना मिलती है कि अति प्राचीनकाल में चण्डालों को भी वेद-श्रवण (वेदाध्ययन) का अधिकार था—

पुरा वेदान् ब्राह्मणा ग्राममध्ये घुष्टस्वरा वृषलान् श्रावयन्ति।[11]

महाभारत के अधोलिखित श्लोक से भी यही सिद्ध होता—

सर्व वर्णा ब्राह्मणा ब्राह्मणाश् च सर्व नित्यं व्याहरन्ते त ब्रह्म।
तत्व शास्त्रं ब्रह्मबुद्धया ब्रवीमि, सर्व विश्वं ब्रह्म चतत् समस्तम्॥[12]

अहिर्बुध्न्य-संहिता चारों वर्णों को वेदाध्ययन का अधिकार देती है—

ये हि ब्रह्ममुखादिभ्यां वर्णाश् चत्वार उद्गताः।
ते सम्यगधिकुर्वन्ति त्रय्यादीनां चतुष्टयम्॥[13]

जैमिनी से प्राचीनतर मीमाँसूत्रकार बाबिर वैदिक धर्म-कर्म में शूद्र का अधिकार मानते थे—'निमितार्थेन बादरिः, तस्मात् सर्वाधिकारं स्यात्।[14]

भारद्वाज श्रौतसूत्र के अनुसार किन्हीं आचार्यों का मत है कि शूद्र भी तीनों वैदिक अग्नियां जला सकता है।[15]

लघुविष्णुस्मृति पञ्चमहायज्ञ का अधिकार शूद्र को देती है—
पञ्चयज्ञविधानं तु शुद्रस्यापि विधीयते।[16]

वृद्धहारीत-स्मृति शूद्र को भी मन्त्राधिकार देती है—

मन्त्राधिकारिणः सर्व, हनन्न्यशरणा यदि।[17]

महाभारत में शूद्र-सहित चारों वर्णों के वेदाधिकार के सम्बन्ध में एक वाक्य भी प्राप्त होता है—

श्रावमेवच चतुरों वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याध्ययनं ह दं, तच् च कार्यं महत् स्मृतम् ।।[18]

और यजुर्वेद में अत्यन्त सुस्पष्ट शब्दावली में मन्त्राधिकार शूद्र आदि सब को दिया गया है—'यथोमां वाचं कल्याणीमावदानी जनेभ्यः । ब्रह्म-राजन्याभ्यां, शूद्राय, चार्याय च स्वाय, चारणाय च ।[19]

इस प्रकार सिद्ध होता है कि यद्यपि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार सामान्यतः वर्जित, तथापि ऐसे आचार्य हो गये है, जिन्होंने वेदाध्ययन का द्वार शूद्र के लिये खोलने का उपक्रम किया ।

स्वामी दयानन्द ने एक स्थान पर लिखा है, और जो कुलीन शुभ लक्षण युक्त शूद्र हो, तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे। शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन करे, परन्तु उसका उपनयन न करे, यह मत अनेक आचार्यों का है ।[20] हमें उन आचार्यों का पता नहीं ।

स्त्रियों के वेदाध्ययन आदि को लेकर भी प्राचीनों में मतभेद पाया जाता है। पुराण आदि में शूद्र के साथ-साथ स्त्री की भी वेदाध्ययन का निषेध किया गया है।

स्त्री शूद्र-द्विजबन्धूनाँ त्रयो न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ।।[21]

किन्तु अति प्राचीनकाल में स्त्री का यज्ञोपवीत भी होता था और उसे वेदाध्ययन तथा गायत्री का भी अधिकार था—

पुराकल्पेषु नारीणां मौन्वीवन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवचनं तथा ।।[22]

अथर्ववेद में कन्या के लिये भी ब्रह्मचर्य के बाद विवाह का विधान है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ,[23]

स्कन्दपुराण की अंगभूत सूत्रसंहिता के कण्वतः स्वीकार किया गया है कि वेदाभ्यास का अधिकार द्विज स्त्रियों को भी है—

द्विजस्त्रोणामपि श्रोतलानाभ्यासेऽविकारिता ।[24]

कहीं-कहीं यज्ञोपवीतनी कन्या का भी उल्लेख हैं,[25] और वह भी आता है कि पति के साथ पत्नी भी वेद पाठ करे ।[26] और **गोभिल-गृह्यसूत्र** में यह बात साफ की गई है कि पत्नो विना पढ़े हवन नहीं कर सकती, न ह्यन-धीत्य शक्नोति पत्नी होतुम ।[27] सब गम्प्रदाय में अधोलिखित श्लोक प्रचलित है—

आहुरप्युतवस्त्रीणामधिकारं तु वैदिके ।
यथार्ध्णोप्यमो चैव यच्चायाज च तथापरा: ।।[28]

हारीत-स्मृति दो प्रकार की स्त्रियां मानी गयो है—ब्रह्मावादिनो और सद्योवधू । ब्रह्मावादिनी की उपनयन, अबनीबन्धा और स्वगृह में भिक्षाचर्या का अधिकार है, जबकि सद्योवधू का उपनयन नहीं होता—'द्विविधा हि स्त्रियः' ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च च । तत्र ब्रह्मवाविनामप्युपनयनं, अग्निन्धनं, स्वगृहे भिक्षाचय च । सद्योवधूनामुनयनम् कृत्वा विवाहः कार्यः ।[29]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शूद्रों और स्त्रियों उपनयनाधिकार और वेदाध्ययाधिकार को लेकर प्राचीनकाल में दोनों परस्पर विरोधी मत प्रचलित थे ।

किन्तु यह मतभेद केवक वेदाध्ययन के सम्बन्ध में था, अध्ययन मात्र के सम्बन्ध में नहीं । अन्य प्रकार के अध्ययन सें सैद्धान्तिक रूप से प्रायः सबको अधिकार था, यहां तक कि ब्रह्मविद्या में भी । जो शंकराचार्य शूद्र के लिये वेदाध्ययन का बलपूर्वक निषेध करते हैं, वेद-मन्त्र सुनने मात्र से शूद्र के कान लाख और सीसे से भर देने की **गौतम-धर्मसूत्र** में प्रतिपादित परम्परा का अनुमोदन उल्लेख करते हैं,[30] वे ही विदुर, धर्मव्याध आदि को आत्मज्ञानी,[31]

तथा वाचक्नवी, रैक्य आदि को ब्रह्मज्ञानी[32] मानते हैं, जब कि ये सब या तो शूद्र या शूद्रोत्पन्न हैं या अज्ञातजन्मा।

एक बात और स्पष्ट है। सम्पूर्ण भारतीय निगमागम में सहशिक्षा की कोई कल्पना नहीं है। वस्तुतः केवल पुरुषों के आचार्यकुलों, गुरुकुलों की सूचना प्राप्त होती है। आचार्य से ही दो स्त्रीलिंग शब्द बनते हैं—आचार्यानी और आचार्या। आचार्यानी का अर्थ तो आचार्य-पत्नी है,[33] किन्तु आचार्या को आचार्य के समकक्ष अवश्य माना जाता है। वस्तुतः वैयाकरण 'आचार्य' शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं, 'आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी। आचार्या स्वयं व्याख्यात्री।[34] और टिप्पणी-२२ में जिस श्लोक का हवाला दिया गया है उसे उद्धृत करते हुए कहते हैं कि प्राचीनकाल में ब्रह्मवादिनी स्त्रियां हो गई हैं उन्हीं का लक्ष्य करके उपाध्याय और आचार्य शब्द बनाये गये है।[35] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कभी स्त्रियां आचार्य भी हुआ करती थीं, और आचार्य की परिभाषा मनुस्मृति में इस प्रकार की गई है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥[16]

अर्थात् वेद का अध्यापक आचार्य कहलाता था, अतः वेद की अध्यापिका आचार्या कहीं जाती थी। तथापि उनकी अध्यापन-संस्था अथवा प्रक्रिया आदि के विषय में, जहां तक हमें पता है, परम्परा मौन है। ऐसा नहीं सुना जाता कि अमुक कन्या यज्ञोपवीतनी अथवा उपनीत होकर किसी आचार्या के कुल में अध्ययनार्थ गयी हो।

यही दशा 'उपाध्यायी' शब्द की है। उपाध्यायानी उपाध्याय-पत्नी और उपाध्यायी स्वयं व्याख्यात्री। ऊपर टिप्पणी ३३ से ३५ तक दिये हुए सन्दर्भों में इस पर भी उसी प्रकार विचार हुआ है। उपाध्याय की परिभाषा देते हुए मनु कहते हैं कि जो वेद का केवल एक अंश अथवा वेदान्त पढ़ाये और वह भी वृत्ति लेकर, उसे उपाध्याय कहते हैं—

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।
यो ध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥[37]

उपाध्यायी के विषय में वही प्रश्न उठता है जो आचार्या के प्रसंग में अभी उठाया गया है।

यहां प्रसंगतः यह भी उल्लेखनीय है कि वृत्ति लेकर विद्या-दान को प्राचीन काल में निन्दनीय माना जाता था। शास्त्र-विक्रयी की निन्दा सर्वत्र है। कालिदास ज्ञान वेचने वाले को वणिक् घोषित करते हैं।

यस्यागमः केवल-जीविकायै तं ज्ञानपरायं वणिजं वदन्ति।[38]

अस्तु, छात्र दो प्रकार के होते थे—(१) अन्तेवासी, अथता 'आचार्य-कुलवासी[40] और (२) 'दण्डमाणव'[41]—जैसे आजकल के छात्रावासी और दैनन्दिन विद्यार्थी।

प्राचीनकाल में पाठ्यक्रम तीन प्रकार का था— (१) वेद-विद्या त्रयी-विद्या, (२) धर्मशास्त्र-मोक्षशास्त्र और (३) लोकायत (सेक्युलर)। वेदाध्ययन चरणों में और शाखाओं में होता था। वेद के अनेक चरण, अनेक शाखायें बन गयी। प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध विशालकाय वाङ्मय बन गया—अनुशाखा, ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, आरण्यक, निषद्, उपनिषद् कल्प, अनुकल्प, शाखाध्यायिनी स्त्रियाँ भी होती थीं। कठशाखाध्यायिनी 'कठी' इत्यादि[42] वेद-विद्या। त्रयी-विद्या का प्रचार-प्रसार मुख्यतः ब्राह्मणों में रहा। राजाओं के लिये भी इस विद्या का अध्ययन शास्त्रतः अनिवार्य था, यद्यपि व्यवहार में इस प्रकार का राजन्य-वर्ग के बीच घटता गया है। धर्मशास्त्र का प्रचार ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों में था। मोक्षशास्त्र की शिक्षा-दीक्षा में क्षत्रिय एक समय, उपनिषत्काल में ब्राह्मणों से बाजी मार ले गये। **छान्दोग्योपनिषद्** में ब्रह्मविद्या विशेष के सम्बन्ध में राजा प्रवाहण जैविल के मुख से ब्रह्मर्षि गौतम के प्रति कहलाया है, 'इयं न प्राक् त्वतः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति।[43] **बृहदारण्यकोपनिषद्** में भी कहा गया है, 'इयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिम्चन ब्राह्मण उवास।[44] **गीता** में कृष्ण का वक्तव्य है कि उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मयोग राजर्षि परम्परा में ही प्रचार-प्रसार को प्राप्त हुआ।[45] इस विद्या में आगे चलकर श्रमणों ने भी पर्याप्त योगदान किया। इसी में आन्वीक्षिकी, दर्शनशास्त्र अथवा तर्कशास्त्र का भी विकास हुआ, जिसे ब्राह्मण

आरम्भ में शंका की दृष्टि से देखते थे। कश्यप के प्रति श्रृगालत्वापन्न इन्द्र की उक्ति **महाभारत** में इस प्रकार है—

अहमासं पण्डितको, हैतुको वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुषक्तो निरर्थिकाम्॥
हेतुवादान् प्रवदिता, वक्ता संसत्सु हेतुमत्।
आक्रोष्टा, चाभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान्॥
'नास्तिकः' सर्वशङ्की च, मूर्खः, पण्डितमानिकः,
'तस्येयं फलनिर्वृत्तिः श्रृगालत्वं मम द्विज।[46]

लोकायत बाद में चलकर चार्वाक का पर्याय बन गया, परन्तु मूलतः वह लौकिक विद्यात्मक शास्त्रसम्भार के रूप में उद्भावित हुआ था। वैदिक ब्राह्मणों और धर्म दर्शनज्ञ ब्राह्मणों, क्षत्रियों और श्रमणों की समता में लोकायतिक ब्राह्मणों का भी एक वर्ग बन गया था। रामायण में राम, भरत से प्रजा का कुशल मंगल पूछते हुए लोकायतिक ब्राह्मणों का कुशल-क्षेम पूछते हैं, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि उसी सन्दर्भ में उनके प्रति निन्दा का स्वर पीछे से मिला दिया गया है—

'कश्चिन् न लोकायतिकान् ब्राह्मणान् तात सेवसे?
'अनर्थकुशला ह्य ते बालाः पण्डितमानिनः।'[47]

जो विद्यायें पढ़ाई जाती थीं उनकी सूचियां प्राप्त होती हैं। राजन्य वर्ग के लिये आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कशास्त्र, वेदत्रयी, वार्ता अर्थात् आज के शब्दों में अर्थशास्त्र, और दण्डनीति अर्थात् राजनीति—ये चार विद्यायें निर्धारित थी।[48] विद्याओं की दो लम्बी सूचियां हैं, एक चौदह की और दूसरी अट्ठारह की। चौदह विद्याओं की गणना इस प्रकार की गई—

'पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्रांग-मिश्रिताः,
'वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।[40]

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र छह वेदांग (शिक्षा, कल्प,

व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) और चार वेद - यही चौदह विद्यायें हैं। इनमें चार उपवेद जोड़ दें तो संख्या अट्ठारह हो जाती है—

'अंगानि वेदाश् चत्वारो, मीमाँसा, न्यायविस्तारः,
पुराण. धर्मशास्त्रं च—विद्या ह्येताश् चतुर्दश्।
'आयुर्वेदः. धनुर्वेदः, गान्धर्वश चव त त्रयः,
'अर्थशास्त्रं चतुथ तु—विद्या ह्याष्टादशव ताः।'[51]

उपवेद और भी हैं जिनकी गणना नहीं की गई है। वे प्रायः सभी लौकिकविद्या विषयक हैं। हम समझते हैं कि लोकायत-परम्परा का मूल उपवेद ही है। इसी लिये इसके अध्येता पहले ब्रह्माण हुए, जिनकी संज्ञा लोकायनिक ब्राह्मण पड़ी। बाद में उन्होंने अन्यों का दीक्षा दी और लोकायत-परम्परा वर्णाश्रम-साँकर्य द्वारा अन्ततः चार्वाक के रूप में परिणत हो गयी। नारद ने जिन विद्याओं का अध्ययन किया था उनकी सूची इस प्रकार है—ऋग्वेदं भगवो। प्रध्येमि, यजुर्वेद, सामवेदमायर्वणं चतुथमितिहासपुराण पंचमं वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दवं निधिं, वाकोवाक्यमेकायनं, वेदविद्या, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां नक्षत्रविद्यां, सपदेवजन—विद्याम्।'[51]

प्राचीन शिक्षा के विषय में एक बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कम से कम वेद-विद्या और धर्मशास्त्र-मोक्षशास्त्र की शिक्षा का उद्देश्य केवल बुद्धि का संस्कार नहीं था. पूरे व्यक्तित्व का संस्कार था। **निरुक्त में** उदाहृत **संहितोपनिषद्ब्राह्मण** तथा **वसिष्ठ-स्मृति** का वचन है—

विद्या हवै ब्राह्मणमाजगाम. गोपाय मा शेवधिष् टेहमस्मि।
असूयकायानृजवेयताय न मा ब्रूया, वीर्यवती मस्मि यथास्याम्।'[52]

अर्थात् विद्या ब्राह्मण के पास आयी और बोली मेरी रक्षा करो। तुम यदि मुझे हृष्ट-पुष्ट देखना चाहते हो तो मुझे ईर्ष्या-द्वेष से आक्रान्त, बेईमान और असयमी के पास न भेजना।

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये आचार्य के आदेश पर वर्षों ब्रह्मचर्यवास करना पड़ता था, तपस्या और श्रम करना पड़ता, जैसा नचिकेता के उपा

ख्यान से ज्ञात होता है। वेदान्त आदि शास्त्र पढ़ने के लिये साधनायें निर्धारित की जाती थीं। शंकराचार्य ने उनका समाहार साधन-चतुष्टय में किया है। षट्‌सम्पत्ति (शम, दम उपरति ततिक्षा. समाधि और श्रद्धा), नित्यानित्य-वस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग और मुमुक्षुत्व।'[53]

किन्तु यह एक प्रकार की धर्मशिक्षा है, जो उच्चतर शिक्षा की अनिवार्य पूर्वपीठिका थी। आज भी धर्मशिक्षा की बात उठती है, किन्हीं विश्वविद्यालयों में इसकी व्यवस्था भी यत्किंचित् है, किन्तु वैसे ही जैसे कि शराब में गंगाजल अकबर इलाहाबादी का शेर है—

नयी तालीम में भी गजहबी तालीम शामिल है
मगर यूं ही कि जैस आवजम्जम में मैं दाखिल है।

इसके अतिरिक्त धर्मशिक्षा का व्यावहारिक रूप तो आज सोचा भी नहीं जा रहा है।

किन्तु प्राचीन शिक्षा में, इस कारण और अन्यथा भी अति गोपनीयता की प्रवृत्ति बढ़ गई थी, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-सारा ज्ञान-विज्ञान आचार्यों अथवा उनके इने-गिने शिष्यों के साथ ही लुप्त हो गया।

वैदिक शिक्षा सदा मासिक हुआ करती थी। लिखित-पाठक की निन्दा की गई है—

'गीती, शीघ्री, शिरस्कम्बी, तथा लिखित-पाठकः,
'अनर्थज्ञो, ऽल्पकण्ठश् च—षडेते पाठकाधमाः।[54]

नियम से मौखिक वेदाध्ययनाध्यापन का परिणाम यह हुआ कि वैदिक संहिताओं में पाठभेद, उच्चारणभेद, संस्करणभेद आदि अनेक भेद उत्पन्न हो गये और तीन-चार के स्थान पर ग्यारह सौ तीस इकत्तीस अथवा इससे भी अधिक संहितायें अस्तित्व में आ गयीं। साथ ही साथ इनमें प्रायः प्रत्येक ने अपने-अपने स्वतन्त्र ब्राह्मण अनुब्राह्मण, आरण्यक, निषद, उपनिषदें, कल्प और अनुकल्प उद्भावित कर लिए, वस्तुतः इस प्रकार इतना विशाल

वैदिक वाङ्मय उपस्थित हो गया, जो अध्येताओं और अध्यापकों के नियन्त्रण से बाहर हो गया, विशेषत: उनके मौखिक अध्ययनाध्यापद के आग्रह के कारण। फलक: अनेक शाखाओं के अध्येता-अध्यापयिता नहीं मिले, और अधिकतर उनका लोप हो गया। आज हमें केवल ग्यारह पूर्ण संहिताय और एक अपूर्ण संहिता प्राप्त होती है। ब्राह्मण और आरण्यक उसमे भी कम मिलने हैं। कल्पसूत्रों की भी यही दशा है। उपनिषदें कुल लगभग सवा दो सौ प्राप्त होती हैं जिनमें से अधिक से अधिक बीस ही प्राचीन हैं।

वैदिक ग्रन्थ राशि कण्ठस्थ करते-करते अध्येताओं की आयु का बडा भाग व्यतीत हो गया था, और प्राचीन सन्दर्भ के अनुशीलन से पता चलता है कि यह भी प्रवाद प्रचलित हो चला था कि इससे बुद्धि पर भी कुप्रभाव पड़ता है। युधिष्ठिर के प्रति भीम कह जाते हैं—

श्रोत्रियस्येव ते राजन्! मन्दकस्याविपश्चित:,
'अनुवाक हता बुद्धिर् नैषा तत्वार्थदर्शिनी।[55]

यहां युधिष्ठर के प्रति खीझ के कारण भीम उनकी बुद्धि की उपमा श्रोत्रिय की मन्द वेदवाक्यों से कुण्ठित बुद्धि से देते हैं। कालिदास पुरुरवा के मुख से उर्वशी के रूप लावण्य का बखान कराने–कराते यहां तक कहा गया है कि ऐसा मनोहर रूप वेदाभ्यास: जड़ ब्रह्मा भला कैसे रच सकते हैं—

अस्या: सर्गदिधौ प्रजापतिरभूच् चन्द्रो नु कान्तिप्रद:।
श्रृंगारैकरस: स्वयं नु मदन: मासो नु पुष्पाकर:।
वेदाभ्यास—जड़: कथं नु विषयव्यावृत्तकोतूहल:,
निर्मातुं प्रभवेन् मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनि: [56]

कुछ ऐसी ही बात श्रीमद्भागवत के अधोलिखित श्लोक में भी कही गई है—

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽय,
देव्या विमोहितमतिर् बत। माययाऽलम्।

त्रय्यां जड़ीकृतमतिर मधुपुष्पितायां.
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ।[57]

इन परिस्थितियों में, यदि वैदिक ज्ञान-विज्ञान के लोप की स्थिति आ पहुंची हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का अध्ययननाध्यापन भी अधिकतर मौखिक ही था। तदर्थ सूत्र बने, फिर उनपर भाष्य, वार्तिक, वृत्ति, टीका आदि व्याख्या ग्रन्थों की रचना हुई। स्मरण-सौन्दर्य के लिये कारिकायें भी लिखीं गयीं। लिपिबद्ध करने का चलन कम होने के कारण अनेक ग्रन्थ उनके रचियिताओं-अध्येताओं के साथ ही कालकवलित हो गये। हमें तो अब केवल बचो-खुचो ग्रन्थराशि उपलब्ध है।

लोकायत, लौकिक विषयों से सम्बद्ध साहित्य की भी यही दशा है। उपवेदों का तो अब केवल नाम ही रह गया है।

यहां उल्लेखनीय है कि यहां कभी भूवदेव अपर नाम कर्णीसुत-करण्टक रचित स्तेयशास्त्र भी हुआ करता था,'[58] इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ भी थे। पता नही उनके अध्ययनाध्यापन को व्यवस्था थी या नहीं।

बौद्धों के उत्कर्ष-युग में नालन्दा, विक्रमशिला और उदन्तपुरो जैसे विश्वविद्यालयों की परम्परा का पता चलता है। नालन्दा में प्रवेश के लिए प्रखर पाण्डित्य की शर्त थी। प्रवेशार्थी का द्वार-पण्डितों से शास्त्रार्थ करके अपनी अर्हता सिद्ध करना पड़ती थीं। वह आज की अपेक्षा अधिक सही अर्थों में उच्चशिक्षा का केन्द्र था।

* *

सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद

डॉ० विभा
प्रवक्ता, दर्शन विभाग,
गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर

भारत में दर्शन का वास्तविक आरम्भ उपनिषद् काल को माना जाता है। प्राचीनतम उपनिषद् अनुमानत: एक हजार वर्ष ईसा पूव के बाद के नहीं हो सकते हैं। विस्तृत उपनिषद् साहित्य में अध्यात्म और विश्व से सम्बन्धित प्रश्नों को विभिन्न पहलुओं से उठाया गया है ! ब्रह्म की विश्व कारणता एवं आत्मा की परम ज्ञेयता आदि मन्तव्य उपनिषदों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। पुरुष की जागृत अवस्था क्या है, यह सम्पूर्ण ब्राह्मण कहाँ से उत्पन्न हुआ, प्राण की उत्पत्ति कैसे होती है, इत्यादि बहुत-सी महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्यायें उपनिषदों का मुख्य केन्द्र बिन्दु रही हैं।

दार्शनिक समस्या के दो मुख्य रूप हमें उपनिषदों में दिखाई देते हैं— (१) विश्व तत्व की खोज से सम्बन्धित तथा (२) आत्म तत्व के ज्ञान से सम्बन्धित ! ब्रह्म जिज्ञासा तथा विश्व की विभिन्न प्रकार से व्याख्या इन समस्याओं के अन्तर्गत ही की जाती है।

भारतवर्ष में भौतिक जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या के प्रयास कम ही हुये हैं फिर भी विश्व प्रक्रिया की वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ व्याख्या सांख्य दर्शन में की गई है। सांख्य दार्शनिकों ने विश्व प्रक्रिया को अपने पूर्ण या निरपेक्ष रूप में कल्पित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। इन दार्शनिकों ने सृष्टि के मूल में त्रिगुणमयी 'प्रकृति' नाम के तत्व की कल्पना की है। 'पुरुष' इस दर्शन का दूसरा असंग तत्व है। "पुरुष को न तो वास्तविक भोक्ता

माना गया है और न ही कर्ता। पुरुष के सामीप्य व सान्निध्य मात्र से प्रकृति चेतन की भांति प्रवृत्त होकर निरन्तर परिवर्तित होती रही है।"(व्यासभाष्य)

सांख्य ने विकास प्रक्रिया को विस्तार से समझाने को कोशिश की है। यह दर्शन देश काल आदि पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता को न मानते हुये इन्हें प्रकृति के परिणाम ही मानती है। भौतिक विज्ञान की तरह रूप रस आदि गौण गुणों को ये दर्शन परिमाणगत पारवर्तनों का कार्य एवं भौतिक जगत् के व्यक्तियों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक यामानसिक जगत् के व्यक्तियों को भी प्रकृति का ही दूरवर्ती परिणाम मानता है।

सांख्य दर्शन सम्भवतः भारत का प्राचीन दर्शन है। इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। इस दर्शन की व्यवस्थित व्याख्या तीसरी शती ई० में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' में की गयी है। यही इस दर्शन का सबसे अधिक प्रमाणिक ग्रन्थ है! इस ग्रन्थ पर काफी टीकाय लिखी गई है परन्तु वाचस्पति मिश्र की 'तत्व कौमुदी' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। जितने व्यापक रूप में ये दर्शन भारतीय वांङ्मय में छाया हुआ है उतना शायद अन्य कोई नहीं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' आदि वर्णन से भी सांख्य दर्शन की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस दर्शन में प्रकृति, महत् अहंकार, पञ्च तन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), ग्यारह इन्द्रियां पंच ज्ञानेन्द्रियां—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, पंच कर्मेन्द्रियां—वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, उभयेन्द्रिय (मन) पंच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) और पुरुष नामक पच्चीस तत्वों का विवेचन किया गया है।

प्रकृति कारण है और और महत् आदि सब उसके कार्य हैं। अत्यधिक सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति इन्द्रियगोचर नहीं है, किन्तु महदादि कार्य को देखकर उसकी सत्ता प्रमाणित हो जाती है। सांख्यकारिका में वर्णित निम्न कारिकाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

(१) अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥७॥

(२) सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धे: ।
महदादि तच्चकार्यं, प्रकृति, विरूपं, सरूपं च ॥ ८ ॥

प्रस्तुत आलेख में हम सांख्य दर्शन के आधार भूत 'सत्कार्यवाद' तथा इसके विभिन्न प्रकारों प्रकृति परिणामवाद. ब्रह्मपरिणामवाद व विवर्तवाद की चर्चा करेंगे । -सत्कार्यवाद' सांख्य दर्शन का कार्य-कारण सिद्धान्त है । प्राय: सभी भारतीय दार्शनिक कारणकार्य सम्बन्ध को अनिवार्य मानते है । कोई भी घटना बिना कारण के घठित नहीं होती । कार्यकारण सिद्धान्त के अवलोकन पर सहज ही यह प्रश्न मस्तिष्क में छा छाता है—क्या कार्य की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व उपादान कारण में वर्तमान रहती है ? न्याय दर्शन के अनुसार कार्य का सत्ता उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहती है । नैयायिकों का ये सिद्धान्त सांख्य के सत्कार्यवाद का विरोधी है सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व उपादान कारण में निहित रहता है । सत्कार्य-वाद शब्द के विश्लेषण (सत्+काय+वाद) से भी स्पष्ट है कि यह उस सिद्धान्त का नाम है जो यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है । शंकराचार्य ने वृहदारण्यक भाष्य में सत्कार्यवाद का निरूपण इस प्रकार किया है—

"सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत् पूर्वोत्पन्नस्य कार्यस्य तिरोधानं कुर्वत्....................." वृ० उप० भाष्य १/२/१

इस तथ्य की पुष्टि के लिए सांख्य निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है—

असदकरणादु-पादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणं भावाच्च सत्कायम् ॥९॥

कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य (कारण में) विद्यमान रहता है, क्योंकि कारण अनिहित को उत्पन्न न कर सकने से जो कार्य आवश्यक हो उसी का कारण ग्रहण करने से सब कारणों से सब कार्यों के न होने से जो जिस कार्य में समर्थ है, उस कारण से वही कार्य हाने से तथा कारण जैसा है

कार्य भी वैसा ही होने से यह सिद्ध हो जाता है कार्य सत् (विद्यमान) है। यहां से उल्लेखनीय है कि बौद्ध दर्शन असत् से सत् की उत्पत्ति मानता है जैसे बीज के नष्ट हो जाने पर ही अंकुर को उत्पत्ति होती है। अद्वैत वेदान्तियों के मत में 'सब सत् ही है।' न्याय वैशेषिक मत के अनुसार सत् से असत् की उत्पत्ति होती है जबकि सांख्य मत में 'सत् से सत्' की उत्पत्ति होती है।

असदकरणात्–

कार्य की उत्पत्ति तव तक नहीं हो सकती है जब तक कि कारण को असत् माना जाये क्योंकि असत् को उत्पन्न ही नहीं किया जा सकता है इस लिये कार्य भी सत् कहा जायेगा क्योंकि यदि कारण के व्यापार से पहले कार्य को असत् माना जाये तो उसे सत् बनाना किसी के लिये सम्भव न होगा। उदाहरण के लिए तेल का अभाव बालू के कणों में पाया जाता है इसलिए तेल की प्राप्ति बालू ये नहीं हो सकती है। उत्पत्ति को हम किसी भी वस्तु की अभिव्यक्ति मात्र कह सकते हैं। अतः अभाव (असत्) से भाव (सत्) की उत्पत्ति असम्भव है। दादाम में तेल अनभिव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहता है। मिट्टी वाला भूमि में पानी अनभिव्यक्त अवस्था में है। परन्तु हमें ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता है जिस से असत् वस्तु की उत्पत्ति को सिद्ध किया जा सके। यदि हम कारण में कार्य की सत्ता को असत् माने तो फिर कार्य का निर्माण कारण से नहीं हो सकता है क्योंकि जो सत् नहीं है वही असत् है और असत् सत् की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता है। नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: (गीता २/१६) आकाश में आकाशपुष्प का नितान्त अभाव है क्योंकि आकाश पुष्प आकाश में सत्—पहले से विद्यमान्— नहीं है। किसी बांझ स्त्री से सन्तान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उसमें सन्तानोत्पत्ति का नितान्त अभाव है। यदि असत् को सत् में लाया जाता तो वायु में भी रंग की उत्पत्ति सम्भव हो जाती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि अगर कार्य को असत् माना जाएगा तब फिर कारण व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसमे यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में निहित है। चूंकि महदादि व्यक्त की उत्पत्ति प्रधान से होती है इसलिए व्यक्त उत्पत्ति से पूर्व ही उस प्रधान में अव्यक्त रूप में सत् (विद्य-

मान) था। वर्तमान में कार्य रूप में उपस्थित होता है और नष्ट हो जाने पर कारण में ही वह (व्यक्त) लीन हो जाएगा। इसलिए जिस प्रकार कार्य कारण व्यापार के पश्चात् सत् है उसी प्रकार उसके पहले भी वह सत् ही है (क्योंकि उपादान कारण में निहित अव्यक्त कार्य को कार्य में व्यक्त करना निमित्त कारण का कार्य है। निमित्त कारण का उद्देश्य अप्रत्यक्ष कार्य को प्रत्यक्ष रूप प्रदान करना है।)

उपादानग्रहणात्–

उपादान के ग्रहण से भी कारण के व्यापार से पहले कार्य सत् होता है। दूसरे शब्दों में उपादान अर्थात् कारण किसी विशेष कार्य के लिए विशेष कारण का ग्रहण आवश्यक होता है। यही उपादान नियम है। यदि कार्य को ही हम असत् मान लें तब फिर उपादान कारण की आवश्यकता ही नहीं है। उदाहरण के लिए यदि पट (कार्य) असत् है तब फिर तन्तु की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार उपादान कारण में कार्य की सत्ता सिद्ध होती है। सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध उत्पत्ति से पूर्व भी रहता है अर्थात् कार्य अव्यक्त रूप में कारण में विद्यमान रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो दही बनाने के लिये दूध का ही नहीं बल्कि किसी अन्य चीज की भी मांग की जा सकती है तथा कोई भी व्यक्ति दही बनाने के लिए जल, आटा या मिट्टी किसी भी वस्तु का प्रयोग कर सकता है। कहने का अर्थ यह है कि संसार में कभी भी दो असम्बन्ध वस्तुओं में उत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार मृत्तिका से हम पट की उत्पत्ति किसी भी प्रकार नहीं कर सकते हैं ये दोनों वस्तुयें मृत्तिका व पट, एक दूसरे से असम्बन्ध हैं। इस प्रकार जब कारण का सम्बन्ध कार्य से होता है तब कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य को असत् मानने पर हम इस सम्बन्ध को स्थापित नहीं कर सकते हैं। सम्बन्ध दो सत्पदार्थों में ही रह सकता है। सत् और असत् में सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

सर्वसम्भवाभावात्–

यदि हम कारण से असम्बन्धित कार्य की उत्पत्ति को माने तो कार्य

के निमित्त हो जाने पर हमें यह मानना पड़ेगा कि (असत्) अभाव से (सत्) भाव की उत्पत्ति होती है, परन्तु यह असम्भव है। जैसे बाल से तेल की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अतः हम कह सकते हैं कि सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, उदाहरणार्थ चांदी के आभूषणों का निर्माण चांदी से ही हो सकता है तांबे से नहीं। यदि उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य की सत्ता को नहीं माना जाए तो सभी काय कारणो से उत्पन्न होने लगेंगे। इस प्रकार कारण विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति सर्वथा असंभव हो जायेगी। अतः सब वस्तुओं से दूसरी सब वस्तुओं को उत्पत्ति असंभव होना यह सिद्ध करता है कि कार्य असत् नहीं होता।

शक्यस्य शक्यकरणात्–

केवल शक्त कारण से ही अभीष्ट कार्य की प्राप्ति हो सकती है अर्थात् कोई भी कारण किसी भी कार्य को तब हो उत्पन्न कर सकता है जब कि वह उसके लिये समर्थ हो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शक्त कारण वह है जिस में एक विशेष कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हो। बालू में तेल उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होने के कारण वह तेल का कारण नहीं हो सकता है। तेल का कारण कोई ऐसी वस्तु हो सकती है जो समर्थ हो जैसे तिल। समर्थ से यहां तात्पर्य है काय विशेष का कारण बन सकने की योग्यता है। मिट्टी से धट तथा तन्तु से पट का निर्माण होता है क्योंकि मिट्टी घट की उत्पत्ति में समर्थ है। इससे सिद्ध होता है कि कार्य अव्यक्त रूप से कारण में अभिव्यक्ति के रूप में विद्यमान रहता है।

कारण भावाच्च–

कारण और कार्य अभिन्न रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। कारण का रूपान्तर ही कार्य है। कार्य की अव्यक्त अवस्था ही कारण है तथा कार्य कारण को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। काय और कारण में हम सिर्फ अवस्था भेद को ही पाते हैं। कार्य कारण रूप होने के कारण उत्पत्ति के पूर्व भी सत् है। इसलिए दोनों में अभेद सम्बन्ध है पट को तन्तु की अवस्था विशेष

माना जाता है। साथ ही साथ तन्तु और पट में हम उपादान–उपादेय भाव को भी पाते हैं। इस भाव की प्राप्ति दो अभिन्न पदार्थों में ही सम्भव होती है। जैसे जौ बोने से जौ की ही उत्पत्ति होगी और धान बोने से धान की ही उत्पत्ति होगी। यदि कार्य सत् नहीं होता तब जौ बोकर धान को उत्पत्ति होती, परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए ये सिद्ध होता है कि कार्य सत् है क्योंकि सम्बन्ध उन्हीं दो वस्तुओं में स्थापित हो सकता है जो सत् हों। यदि दो वस्तुओं में से एक का अस्तित्व न हो तो यह सम्बन्ध किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है। उदाहरण स्वरूप बन्ध्या पुत्र का सम्बन्ध किसो अन्य व्यक्ति से सम्भव नहीं है क्योंकि यहां पर सम्बन्ध के दो पदों में से एक पद बन्ध्या-पुत्र असत् है। इस प्रकार कारण कार्य में एक अभिन्न सम्बन्ध होने के कारण यह स्थापित होता है कि कारण में कार्य उत्पत्ति के पूर्व सूक्ष्म रूप से अन्तर्निहित है। दूसरे अभिन्न सम्बन्ध से अर्थ है कि कारण कार्य में संयोग विभाग का अभाव है। अगर कारण और कार्य मूलतः एक दूसरे से भिन्न होते तब हम उसमें संयोग और पार्थक्य को पाते जैसें - नदी पर्वत से भिन्न है। इसलिए दोनों का संयोजन होता है पट का निर्माण तन्तुओं से होता है। इसलिए इन दोनों का संयोजन पृथक्करण असम्भव है।

कारण और कार्य की समरूपता परिमाण की दृष्टि से भी होती है लोहे का जो वजन होता है वही वजन उससे निर्मित अलमारी का भी होता है। इससे यह स्पष्ट है कि कारण की सत्ता होने पर ही कार्य की सत्ता होतो है क्योंकि कार्य पहले से ही कारण में उपस्थित रहता है। वस्तुतः कारण और कार्य एक ही द्रव्य की दो अवस्थाय हैं। कारण द्रव्य की अव्यक्त अवस्था है और कार्य द्रव्य की व्यक्त अवस्था है। अतः कारण की सत्ता मे कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति के पूर्व भी अन्तर्निहित है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से सांख्य यह सिद्ध करता है कि प्रधान में महतादि अव्यक्त रूप से विद्यमान है तथा यह भी पुष्टि करता है कि उत्पत्ति सत् की ही होती है असत् की नहीं। इसी आधार पर सांख्य अपने काय कारण सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' के स्वरूप को प्रतिपादित करता है। सांख्य दर्शन के अतिरिक्त योग शंकर, रामानुज भी 'सत्कार्यवाद' के समर्थक हैं। लेकिन शंकर विवर्त्तवाद के पोषक हैं जबकि सांख्य और विशिष्टाद्वैत (रामा-

नुज) परिणामवाद को उचित ठहराते है। इस विभाजन का मुख्य कारण यह प्रश्न है—'क्या कार्य कारण का वास्तविक रूपान्तर है ?' परिणामवाद भावात्मक उत्तर है जबकि विवर्त्तवाद निषेधात्मक अर्थात् भावात्मक से परिणामवाद तथा निषेधात्मक उत्तर से विवर्त्तवाद नामक दो सिद्धान्तों 'सत्कार्यवाद' विभक्त हो जाता है :—
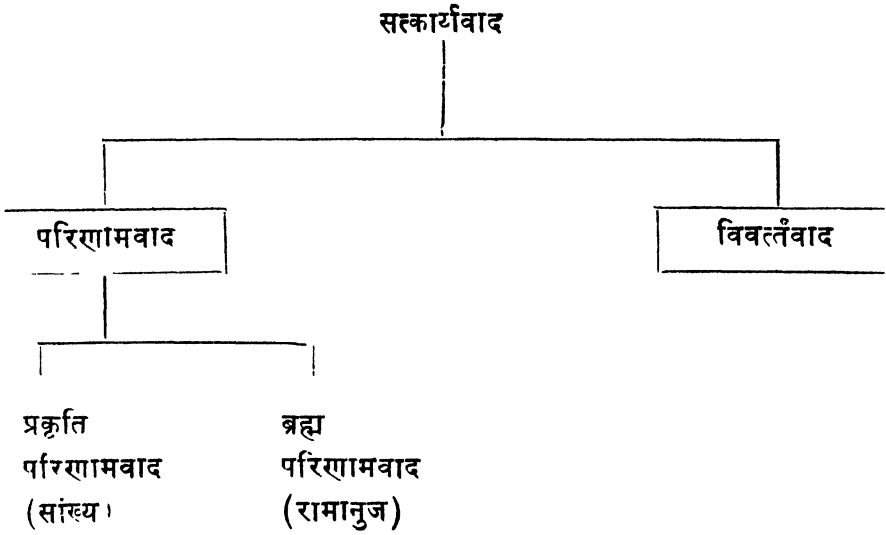
परिणामवाद-

परिणामवाद के अनुसार जब कारण से कार्य का निर्माण, होता है तो कार्य में कारण का वास्तविक रूपान्तर हो जाता है। कारण के बदले हुए रूप को ही कार्य कहते हैं। जब तंतु से पट का निर्माण किया जाता है तब तन्तु का पट के रूप में पूर्ण परिवतन हो जाता है। अत: परिणामवादियों के अनुसार कार्य कारण का परिणाम होता है। इन दोनों में अभेद सम्बन्ध पाया जाता है। संक्षेप में सांख्य के मतानुसार समस्त विश्व प्रकृति का परिवर्तित रूप है। संसार की विभिन्न वस्तुयें प्रकृति के रूपान्तर का ही परिणाम है। चूंकि सांख्य समस्त विश्व को प्रकृति का परिणाम मानता है इसलिए सांख्य के मत को प्रकृति परिणामवाद कहते हैं। समस्त विश्व को ब्रह्म का ही

रूपान्तरित रूप मानने के कारण ही रामानुज के परिणामवाद को ब्रह्म परिणामवाद' के नाम से जाना जाता है।

प्रकृति परिणामवाद—

सांख्य के अनुसार प्रकृति (कारण) का विश्व (कार्य) के रूप में पूर्ण परिवर्तन हो जाता है। प्रकृति गुणों की साम्यावस्था है। इसका गुणों के रूप में परिवर्तन सत् है।

ये दर्शन प्रकृति की स्थापना के लिए विश्व को कारण रूप में स्थापित करता है। विश्व व्यवस्था की व्याख्या प्रकृति के एक होने के कारण सम्भव है। यह जड़ होने के साथ-साथ सूक्ष्म पदाथ भी है। यही कारण है कि स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों स युक्त इस विश्व की व्याख्या करने में भी प्रकृति समर्थ है। विश्व का मूल होने के कारण ही प्रकृति को प्रकृति कहा जाता है, परन्तु प्रकृति स्वय कारणहीन है। विश्व का प्रथम कारण होने से इस प्रधान भी कहा जाता है। प्रथम कारण या प्रधान हाने के कारण ही विश्व की समस्त वस्तुयं इस पर आश्रित हैं, किन्तु प्रकृति स्वयं स्वतन्त्र है। प्रकृति को 'ब्रह्मा', 'अनुमान', 'जड़', 'माया', 'शक्ति', 'अविद्या' आदि नाम से भी जाना जाता है। 'सांख्य' दशन प्रकृति को दिक् और काल की सीमा से परे ही नहीं मानता है अपितु यह भी स्थापित करता है कि दिक् और काल का कारण भी स्वयं प्रकृति ही है। प्रकृति त्रिगुणात्मक (सत्, रज, तम) अविवेकी विषय, सामान्य अचेतन व प्रसवधर्मि है जबकि पुरुष ठीक इसके विपरीत है।

त्रिगुणमविवेकि, विषय: सामान्यमचेतनं, प्रसवधर्मि।
व्यक्तं, तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥
(सांख्यकारिका—११)

इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति ही वह तत्व है जिससे संसार की समस्त वस्तुय उत्पन्न होती हैं। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रकृतिं तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति के गुण निरन्तर

गतिशील रहते हैं। जब प्रकृति शान्त अवस्था में रहती है तब भी प्रकृति के गुणों में परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन के समय प्रकृति के अन्दर सरूप परिणाम परिलक्षित होते हैं। यही प्रकृति की प्रलयावस्था है। इस अवस्था में किसी भी, वस्तु को उत्पन्न करने में असमर्थ रहती है। विकासवाद की क्रिया (उत्पन्न करने की प्रक्रिया) प्रकृति में विरूप परिणाम के समय ही प्रारम्भ होती है। साथ ही साथ विरूप परिणाम के लिए पुरुष और प्रकृति का संयोग-परमावश्यक है। परन्तु प्रश्न यह है कि अचेतन और निष्क्रिय का संयोग कैसे हो सकता है। कारण यह है कि दोनों परस्पर प्रतिकूल एवं विरोधात्मक है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है जबकि पुरुष त्रिगुणातीत है प्रकृति एक है पुरुष अनेक। प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन। इसी प्रकार प्रकृति सक्रिय है तथा पुरुष निष्क्रिय।

उपरोक्त समस्या के समाधान के लिये सांख्य दर्शन उपमाओं का सहारा लेता है। एक उपमा के अनुसार जिस प्रकार अन्धा व लंगड़ा एक दूसरे की सहायता से जंगल पार कर लेते है इसी प्रकार जड़ प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष सम्पूर्ण विश्व का सृजन करते हैं। इस उपमा के अनुसार प्रकृति को अन्धा तथा पुरुष को लंगड़ा प्रदर्शित किया गया है लेकिन यह उपमा गलत प्रतीत होती है क्योंकि अन्धा और लंगड़ा दोनों चेतन हैं जबकि पुरुष व प्रकृति में प्रकृति अचेतन है। इसके अतिरिक्त इस उपमा में अंधे और लंगड़े दोनों का उद्देश्य जंगल को पार करना है जबकि पुरुष और प्रकृति में मोक्ष की प्राप्ति दोनों का उद्देश्य नहीं है।

उक्त उपमा की आलोचना से बचने के लिये सांख्य चुम्बक और लोहे की उपमा का आश्रय लेता है। इस उपमा में पुरुष की तुलना लोहे से तथा प्रकृति की तुलना चुम्बक से की गयी है। लेकिन यह उपमा भी पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की व्याख्या नहीं कर सकती है क्योंकि पुरुष और प्रकृति क्रमश: चेतन और अचेतन तथा लोहा और चुम्बक दोनों अचेतन हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष प्रकृति संसर्ग से सर्व प्रथम प्रकृति से महत् की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण विश्व इसी महत् में बीज के रूप में

समाविष्ट रहता है। बाह्य दृष्टि से यह महत् कहलाती है। अहंकार प्रकृति का दूसरा विकास है। अहंकार से पञ्च तन्मात्राओं की तथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। सतो गुण से मन, पंच ज्ञानेन्द्रियां व पंच कर्मेंद्रियों का विकास होता है। इसी प्रकार पंच तन्मात्रों से पंच महाभूतों की उत्पत्ति बताई गयी है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में सम्पूर्ण सृष्टि के विकास को पच्चीस तत्वों की लीला माना गया है।

ब्रह्म परिणामवाद–

रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म जगत का उपादान एवं निमित्त कारण है। वह अपने अन्दर निहित अचित से विश्व का निर्माण करता है। जिस प्रकार मकड़ी अपनी ही सामग्री से जाल बुन लेती है। उसी प्रकार ईश्वर स्वयं ही सृष्टि की रचना कर लेता है रामानुज के अनुसार विश्व ब्रह्म का रूपान्तर रूप है। जिस प्रकार घड़ा मिट्टी का परिवर्तित रूप है उसी प्रकार यह विश्व भी ब्रह्म का परिवर्तित रूप है। यह समस्त विश्व ब्रह्म में ही निहित है। ब्रह्म का परिणाम होने के कारण विश्व भी ब्रह्म की ही तरह सत्य है अर्थात् ब्रह्म परिणामवाद के अनुसार कारण कार्य के रूप में पूरी तरह सह परिवर्तित हो जाता है। उत्पत्ति के पूर्व यह जगत् प्रकृति के रूप में ब्रह्म में ही समाविष्ट रहता है। इसी प्रकार जीव भी अपनी उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म के अन्दर रहते हैं। चूंकि रामानुजाचार्य के अनुसार चित्त, अचित्त और ईश्वर ब्रह्म के ही तीन तत्व हैं। अतः जगत् भी सत्य है। प्रलय की अवस्था में प्रकृति सूक्ष्म अविभक्त रूप में रहती है। प्रकृति का यही सूक्ष्म अविभक्त रूप स्थूल विषयों की उत्पत्ति का कारण है। यही स्थूल विषयों की उत्पत्ति ही भौतिक संसार के रूप में दिखाई देती है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इनके अनुसार ईश्वर जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। अपने ही अंश प्रकृति को जगत् के रूप में परिवर्तित करने से वह उपादान कारण तथा संकल्प मात्र से अनायास जगत् का निर्माण करने से निमित्त कारण हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि दृश्यमान जगत् ब्रह्म का परिणाम है। कारण सत् होने से कार्य भी सत् है। सृष्टि सत् है क्योंकि सृष्टि की रचना करने वाला ब्रह्म भी सत् है। ईश्वर की प्रकृति का अचित् कहा गया है। जिससे संसार उत्पन्न होता है। उपनिषद् में इसी जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को माया की संज्ञा दी गई है। उदाहरण के लिए श्वेताश्वेतरोपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रकृति को माया और ईश्वर को मायावी समझना चाहिए। यह सम्पूर्ण जगत् उसी के अवयवभूत से व्याप्त है। इस प्रकार ईश्वर का कार्य होने से जगत् सत्य है। श्रुतियों में भी कई स्थानों पर इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि सृष्टि की रचना से पूर्व ब्रह्म ही था और किसी भी अन्य तत्व की उस समय उपस्थिति नहीं थी। अतः सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है क्योंकि ब्रह्म स्वेच्छा से स्वतः को इस जगत् के रूप में उद्भूत कर लेता है। जिस जकार स्वर्ण सत्य है और श्वर्णनिर्मिन आभूषण भी सत्य हैं ठीक उसी प्रकार ब्रह्म भी सत्य है और उसका परिणाम भी सत्य है परन्तु प्रकृति की स्वतन्त्रता को नहीं माना जा सकता है क्योंकि वह परमेश्वर का ही शरीर है। इस प्रकार रामानुज जगत् की उत्पत्ति ईश्वर की प्रकृति से मानते हैं।

निम्नलिखित तर्कों के माध्यम से रामानुजाचार्य संसार की सत्यता को प्रतिपादित करते हैं—

(१) संसार को भ्रममात्र समझ लेने से श्रुति वाक्य भी भ्रम ही समझे जाने लगेंगे—

किं च तत्वस्यादिवाक्यं न प्रपञ्चस्य साधकम्। (सर्वदर्शन संग्रह)

(२) विशेषण जीव और विशेष्य ब्रह्म में एकता न हो सकने के कारण प्रपञ्च का नाश नहीं हो सकता।

(३) यदि ब्रह्म सत्य है तो उसकी कार्यावस्था जिसे सृष्टि कहते हैं भ्रम कैसे हो सकता हैं। अतः जगत् सत्य है।

विवर्त्तवाद-

शंकराचार्य भी सत्कार्यवाद को मानते हैं। इनके कारण कार्य सिद्धान्त को विवर्त्तवाद के नाम से जाना जाता है। अपने वृहदारण्यक भाष्य में शंकर सत्कार्यवाद को बड़ा सुन्दर निरूपण किया है—

सर्वे हि कारणं कार्यमुत्पादत्पूर्वोत्पन्नस्य..................।

(१; १; १)

अर्थात् उत्पत्ति से पहले घट पिंड आदि अवयवों में अनभिव्यक्त प्रकार से सन्निहित रहता है। उसका आवरण करने वाला मिट्टी का पिंड आदि दूसरा कार्य होता है। एक समय में कारण एक ही कार्य के रूप में दिखायी दे सकता है, उस समय उसके कार्य अप्रकट रूप में रहते हैं। कहने का अर्थ यह है कि कारण-सामग्री विभिन्न रूपों में संसृष्ट हो सकती है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी पुद्गल शक्ति विभिन्न रूप धारण कर सकती है किन्तु अन्ततोगत्वा उसका परिमाण अपरिवर्तित रहता है। विवर्त्तवाद सांख्य के परिणामवाद तथा रामानुज के ब्रह्म परिणामवाद से भिन्न है। शंकर के अनुसार कार्य रूप तो मिथ्या है इस प्रकार कारण से भिन्न कार्य हो ही नहीं सकता है—

'अनृतत्वात् कार्यवस्तुनः। न हि कारणव्यतिरेकेण।
कार्य नाम वस्तुतो स्ति— तैत्तरीय उपनिषद् भाष्य'

यदि ध्यान से देखा जाये तो शंकर का सत्कार्यवाद सत्कारणवाद है। इनके अनुसार कार्य किसी भी प्रकार से कारण से भिन्न अथवा स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में कार्य की कारण सें भिन्न कोई सत्ता हो ही सकती। इसलिए कारण ही सत् है कार्य तो कारण का आभासमात्र है। शंकर ने कारण कार्य में तादात्मय सम्बन्ध या अभेद सम्बन्ध माना है। उनके विचार में कार्य कारण पर आश्रित है, कारण कार्य पर नहीं।

विवर्त्तवाद के अनुसार कार्य, कारण का विवर्त्तमात्र होता है। देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि कारण का रूपान्तर कार्य में हुआ है परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। प्रत्येक काय अपने कारण का आभासमात्र होता है जैसे रस्सी में सांप की प्रतीति। शंकर सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तर्क दिये हैं :—

(१) प्रत्यक्ष के आधार पर कार्य और उनके उपादान कारण में कोई भेद नहीं दिखायी देता है जैसे मिट्टी और घड़े (मिट्टी से बना हुआ) के बीच वस्तुत: कोई अन्तर नहीं दिखायी देता।

(२) किसी भी कार्य की सत्ता अपनी उत्पत्ति के पूर्व यदि कारण में विद्यमान न मानी जाए तो बालू से तेल की भी प्राप्ति होनी चाहिए।

(३) उपादान कारण और कार्य को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है जैसे मिट्टी से घड़े को अलग नहीं किया जा सकता।

(४) कारण और कार्य में यदि बाह्य सम्बन्ध माना जाए तो कारण और कार्य को भी एक दूसरे से भिन्न मानना पड़ेगा और इनकी भिन्नता को सम्बन्धित करने के लिए एक तीसरे पदार्थ की आवश्यकता होगी तथा यह क्रम चलता रहेगा। इससे अनावस्था दोष आ जायेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि कार्य कारण में कोई भेद नहीं है कारण अपनी ही शक्ति से कार्य में अभिव्यक्त हो जाता है।

शंकर सांख्य के परिणामवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि कार्य को कारण का परिणाम मानना उचित नहीं है। कार्य का आकार कारण में पहले से ही अन्तर्निहित नहीं होता है। फलस्वरूप कार्य के उत्पन्न हो जाने पर यह मानना पड़ेगा कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई है। यह सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का पूर्ण निषेध है ।

शंकर ने ब्रह्म को ही एकमात्र सत् माना है। बिभिन्न रूपों वाले इस जगत् में ब्रह्म का रूपान्तर आभासमात्र है—'ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या' क्योंकि

ब्रह्म अपरिवर्तशील एवं यथार्थ है। यथार्थ का अयथार्थ में रूपान्तर नहीं हो सकता है। यही कारण है कि इनके अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त्तमात्र है। इसीलिए उन के कार्य कारण सिद्धान्त को विवर्त्तवाद की संज्ञा दी गयी है। शंकर जगत् की सृष्टि की व्याख्या विवर्त्तवाद के आधार पर युक्तिसंगत ढंग से करने में सफल हुए हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विवर्त्तवाद के अनुसार विकास या उत्पत्ति मात्र आभास या विवर्त्त है। आकृति में परिवर्तन ही वास्तविक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता —

'न हि देवदत्तः संकोचित हस्तपादः ... . '

(ब्रह्मसूत्र भाष्य २/१/१८)

आकार तो वस्तुगत है। आकृति की स्वतन्त्रता सत्ता नहीं होती। अतः आकारिक परिवर्तन को वास्तविक परिवर्तन मानना तर्कसंगत नहीं है। शंकर के विचार में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। पारमार्थिक दृष्टि से यह जगत् मिथ्या है। इसलिए मिथ्या पदार्थ को किसी का वास्तविक परिणाम नहीं माना जा सकता। अपनी मायाशक्ति से युक्त ब्रह्म केवल अधिष्ठानमात्र है। जिस पर जगत् का अध्यास किया जाता है। ज्ञान का उदय हो जाने पर जगत् और उसके व्यावहारिक प्रपञ्च लुप्त हो जाते हैं तथा ब्रह्म जीव ही है' ऐसी प्रतीति हो जाती है। शंकर के अनुसार ब्रह्म जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है, परन्तु जगत् ब्रह्म का परिणाम न होकर केवल विवर्त्तमात्र है। यह विवर्त्त आभास है। अज्ञान के कारण ही मिथ्या जगत् को सत्य मान लेते हैं।

विकारजात यह सृष्टि सत् स्वरूप से ही सत्य है, स्वयं तो वह मिथ्या है। शंकर कारण को सत् तथा काय को मिथ्या मानते हैं। अतः कारण ही उनके अनुसार कार्य की आत्मभूत शक्ति है तथा कारण की ही एकमात्र सत्ता है कार्य की नही जैसे घट के कारण मिट्टी ही एकमात्र सत् है। मिट्टी से निर्मित घड़े तथा सकोरे आदि तो मिट्टी के विकारमात्र होने से विवर्त्त या भ्रान्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सत्कार्यवाद विश्वव्याख्या करने वाला एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। साँख्य का सत्कार्यवाद ही महत्वपूर्ण प्रकार है ।

अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त 'प्रकृति' की स्थापना सांख्य ने सत्कार्यवाद के आधार पर हो की है। बिना सत्कार्यवाद के प्रकृति को सिद्ध करना सांख्य के लिए सम्भव नहीं है। यदि यह कहा जाये कि विकासवाद का सिद्धान्त सत्कार्य-वाद की देन है तो कोई अतिशयोक्ति नहो होगी क्योंकि सत्कार्यवाद के अभाव में विकासवाद के सिद्धान्त को समझना कठिन है।

* *

शुभ संकल्प से विश्व शान्ति

डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता, दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विश्व के निखिल राष्ट्र आज भीषण समस्याओं के विकराल जाल में आशिखान्त आबद्ध हैं । नित्य नूतन अशान्ति की काली विभीषिकायें संसार को अपने बाहुपाश में जकड़ने के लिए प्रतिक्षण व्यग्र हैं । चक्रिका के अन्तराल में स्थित अन्नकण के सदृश मानव असहाय और निरुपाय होकर रह गया है। मानसिक शान्ति अन्वेषण करने पर भी मनुष्य से जैसे दूर ही दूर भागती जाती है। ऐसा नहीं है कि शान्त और सुखद वातावरण के अधिगम के लिए मानव ने उद्योग न किया हो अथवा सम्प्रति न किया जा रहा हो। अपरिमित मेधा के धनी वैज्ञानिक विश्व के मानवों को बहुविध सुख सुविधा और विलास के साधन जुटाने में प्रतिक्षण यत्नशील हैं, एवं उन्होंने इस दिशा में साफल्य भी अधिगत किया है । स्विच ऑन करते ही भीषण तपन को शीतल समीर के झोंकों में परिवर्तित किया जा सकता है, अंधियारी रात को पल भर में दिवस तुल्य जगमगाहट दी जा सकती है. दुर्गम बन पर्वत समुद्रतल एवं हिमाच्छादित शैल शिखर पर पहुंच कर अभिलषित कार्य किया जा सकता है। उत्तुंग शिखरों को भूमिसार करना कोई कठिन कार्य नहीं। संगति की स्वर लहरी पलक झपते ही वातावरण को रंगीन बना देती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि विश्व में अब दुलभ और दुष्कर कुछ भी नहीं रह गया है। फिर भी क्या कारण है कि अपरिमित सुख साधनों के सुलभ होते हुए भी मानव मस्तिष्क की उलझनें बढ़ती ही जाती है ? मानसिक तनाव प्रतिदिन क्यों बढ़ रहा है ? व्यक्ति ही नहीं समूचा राष्ट्र ही स्वयम् को मृत्यु के सायों से घिरा अनुभव कर रहा है। कत्ल, अपहरण, रोग, आतंक हड़ताल, साम्प्रदायिकता

का विप, क्षेत्रीयता मारक परमाणु अस्त्रों का जमाव, स्वेच्छाचारिता, अनु-शामन हीनता आदि समस्याओं ने विश्व की शान्ति को समाप्त करके रख दिया है। आखिर क्यों ? इसका सीधा सा उत्तर यही है कि प्रत्येक कार्य के प छे शुभ संकल्पों का अभाव हो गया है।

सुख और शान्ति सभी चाहते हैं। अशान्ति कोई भी नहीं चाहता। यह कोई पसन्द नहीं करता कि घर में आराम करते समय कोई धमाका हो और शोर मच उठे । एक चोर भी यही चाहता है कि वह आराम से चोरी करके साफ निकल जाये और पुलिस उसे न पकड़े। दिन भर हेरा फेरी और काला धन्धा करने वाला व्यक्ति भी यह कभी नहो चाहता कि कानून उस पर अपनी पकड मजबूत करे। प्रजा को धोखा देने वाला नेता भी सुख चाहता है। हिसाब के गड़बड़ करने वाला आफिसर और क्लर्क भी आराम से रहना चाहता है। मन्दिर का पाखण्डी पुजारी, बूचड़खाने का कसायी, दहेज लेने वाला बाप, पत्नी को जलाकर मारने वाला पति, सतीत्व हरण करने वाला दुराचारी आदि सभी शान्ति मे रहना चाहते हैं। अब आप ही सोचिए कि शान्ति प्राप्त करने का क्या यह यही उपाय है ? क्या ये उपरिवर्णित व्यक्ति शान्ति प्राप्त कर सकते है। कुछ समय के लिए आत्मा की अन्तध्वनि को अयुत करके कोई शान्ति लाभ का मिथ्याभिमान भले ही वहन कर ले किन्तु परिणाम में सदैव अशान्ति ही हाथ लगती है।

राम का नाम ठग ठाकुर और चोर तीनों ही लेते हैं। किन्तु शान्ति क्या तीनों को मिलती है ? नहीं मिलती। क्योंकि शान्ति राम के नाम में नहीं है। शुभ सकल्पों में है, सुन्दर विचारों में तथा कल्याण भावना में है । क्या क्या कारण है कि निर्जन अरण्य प्रान्त में झोपडी बनाकर रहने वाला योगी असीमित आनन्द प्रगाढ़ शान्ति और अनुद्वग का अनुभव करता है तथा ऊंचे भवन में कोमल कान्त शय्या पर शीतल वातावरण में शयन करने वाला पुरुष शान्ति के दो पलों के लिए तरसता है, किन्तु शान्ति नहीं मिलती। कारण स्पष्ट है। सुख का निवास बाह्य साधनों में नहीं है। सुख और शान्ति का धाम पवित्र मन है और मन में शुभ संकल्प है।

प्रश्न हो सकता है कि शुभ संकल्प हैं क्या और उनका मन में आगमन

किस प्रकार हो सकता है ? उत्तर कठिन नहीं है । शुभ संकल्पों की दिशा में मन की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। जब उस प्रवृत्ति को दबा दिया जाता है तभी अनर्थ और अशान्ति का दौर प्रारम्भ हा जाता है। यह संकल्प शुभ है या अशुभ इसकी पहचान करने का भी मापदण्ड यही है कि जो बात स्वयं को रुचिकर नहीं लगती उसका आचरण दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए। कोई भी राष्ट्र नहीं चाहता कि पड़ौसी देश उस पर चढ़ बैठे और उसकी भूमि पर अधिकार कर ले। जब वह स्वयं नहीं चाहता तब उसे भी यह चाहिए कि वह भी किसी देश पर आक्रमण न करे। उसे भी जीने दे स्वयं भी सुख से जिये। यही बात प्रत्येक व्यक्ति जीवन में उतार ले तो शान्ति पलक झपकते ही आ जाये। संसार में सुख की वर्षा होने लगे, आनन्द की वीणा बजने लगे। यही तो शुभ संकल्प का चमत्कार है।

दया दान मैत्री करुणा अहिंसा सत्य अास्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह सभी शुभ संकल्प हैं । दया करो किन्तु दुष्ट पत नहीं। दान दो किन्तु मद्यप को नहीं। मैत्री करो किन्तु सत्पुरुषों से अहिंसा का पालन करो तो केवल अहिं-सकों से, हिंसकों से नहीं। सत्य एक सार्वभौम और सार्वकालिक शुभ संकल्प है । राजनीति में इसका प्रयोग अनिवार्य है। किन्तु राजनीति से इस शुभ संकल्प का सर्वथा सफाया हो गया है। छल और स्वार्थ-साधन ही राजनीति का अर्थ रह गया है इसीलिए तो राजनीति में आजकल अशान्ति का सब स दौर दौरा है ।

अपरिग्रह से समाज की सब बुराइयां दूर हो सकती हैं । अपरिग्रह क्या है ? जितनी वस्तु जीवन यापन के लिए आवश्यक है बस उतना ही ग्रहण करना, उससे अधिक न लेना। यही अपरिग्रह है । व्यक्ति आज की आवश्यकता की पूर्ति करके अग्रिम वर्षों के लिए भी पहले ही संग्रह करके रख लेता है। ऐसा करके वह दूसरों का स्व छीनता है। इससे अस-मानता होती है और फिर असन्तोष तथा कलह वढ़ता है। अतः इन सवके निराकरण का उपाय अपरिग्रह है।

वैदिक ऋषियों ने धन को कभी महत्व नहीं दिया। धन एक साधन है। साध्य के रूप में ग्रहण करने पर ही अनर्थ परम्परा प्रारम्भ होती है।

इसीलिये उन्होंने प्रभु से धन की प्रार्थना न करके शुभ संकल्पों की प्रार्थना की है। विश्वानि दुरितानि परासुव—सब अशुभ संकल्पों को दूर कर दो तथा यद् भद्रं तन्न आसुव—जो भद्र भावनायें हैं उन्हें मन में भर दो। यहा उनकी अभ्यथना थी।

वेद में मन को अजिर अरिष्ठ दूरङ्गम तथा ज्योतिषाँ ज्योति: कहा गया है। समस्त लोक और परलोक, बन्धन और मोक्ष, जय और पराजय, शक्ति और असामर्थ्य, शान्ति और अशान्ति सब कुछ मन के ही अधीन हैं। अशुभ कंकल्पों ने इसकी असीम शक्ति को सीमित करके रख दिया है। यदि इसमें शुभ संकल्प भर दिये जायें तो संसार में कुछ भी दुलभ और दुष्कर नहीं। महर्षि दयानन्द और बुद्ध के समक्ष आकर भयानक क्रूरकर्मा पुरुष भी अपनी कुटिलता का त्याग क्यों कर देते थे? ऋषियों के आश्रम में आकर सिह और हरिण एक ही स्थान पर क्यों बैठते थे? उनका स्वाभाविक वैर-भाव क्यों शान्त हो जाता था? इसका कारण था अहिंसा रूपी शिव संकल्प। 'अहिंसा को प्रतिष्ठा होने पर वैरभाव शान्त हो जाता है' यह भोग दर्शन का सिद्धान्त है। इसलिए अन्य सुखों की कामना न करके वैदिक ऋषि 'तन्मे मन: शिव संकल्पमस्तु' की प्रार्थना किया करते थे। क्योंकि यदि मन शिव संकल्पों से पूर्ण हो गया तो अन्य सुख स्वयम् ही खिचे चले आयेंगे। कहावत है—मन है चंगा तो कठौती में है गंगा" तथा मन के हारे हार है मन के जीते जीत। "मन एवं मनुष्माणां कारणं बन्ध मोक्षयो:" यह स्मृति कारों का कथन है।

असत् से सत् की दिशा में जाने का उत्साह, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की भावना, तथा मृत्यु से अमरत्व की तरफ जाने का विचार महान् शुभ संकल्प है। मैत्रो सब सुखों का भण्डार है, चित्त वैशारद्य का प्रमुख सोपान है। मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा इन चार शुभ संकल्पों को चित्त नैर्मल्य का आपादक माना गया है—

"क्षमेऽहं सर्वान् वे भूतान् ते च क्षाम्मन्तु मा सदा। मैत्री में सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति कर्हिचित्"

तथा

"मित्रस्य मा चक्षुपा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं

चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे"
"अर्थात् सब लोग मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।"

यह शुभ विचार जिस देश और जिस समाज में होगा वहां असमानता ईर्ष्या और द्वेष सिर उठा ही नहीं सकता। शुभ संकल्पों के प्राधान्य से ही तो यह अपना देश और इस की संस्कृति विश्व में अमर है।

विज्ञान जो आत्मस्वरूप है या आत्मा का धर्म दार्शनिक जगत् में सिद्धान्त रूपों में स्वीकृत किया गया है वही विज्ञान आज आत्म का संहारक बना हुआ है। विज्ञान चाहे अन्तःकरण में रहे या प्रयोगात्मक हो वह रक्षक ही होता है और होना चाहिए। किन्तु शुभ संकल्प के अभाव में यह विज्ञान विश्व शान्ति के सामने एक प्रश्न चिन्ह बनकर खड़ा हो गया है।

मैंने कहा था—सुख सभी चाहते हैं। किन्तु चाहने मात्र से सुख या शान्ति नहीं मिलती। जब तक शुभ विचारों को मन में स्थान देने के लिए इतनी तीव्र कामना नहीं होगी जितनी कामिनी के प्रति एक कामी की होती है, तथा अशुभ भावनाओं से इतना भय मन में नहीं जागरित होगा जितना विषधर सर्प को देख कर भय लगता है तथा अशिव आचरणों से इतनी घृणा नहीं होगी जितनी अपनी मल से होती है तब तक शान्ति की प्राप्ति आकाश कुसुम ही बनी रहेगी।

गुण गुणानुवर्ती होते हैं। यदि किसी एक भी शुभ संकल्प को दृढ़ता से मन में स्थान दे दिया तो वह अन्य कल्याण भावनाओं को इस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट कर लेगा जैसे अयस्कान्त लौह को आकृष्ट करता है। दिलीप के गुणों की प्रशंसा करते हुए कालिदास ने कहा है—ज्ञान में मौन. शक्ति में क्षमा, और त्याग में आत्मश्लाघा का अभाव होता है। क्योंकि गुण गुणानुबन्धी होते हैं। ये गुण उस महान् राजा में थे। सत्य के विषय में कहा गया है कि अकेला सत्य ही हजार अश्वमेध यज्ञों के समान फलदायक होता है—

अश्वमेध सहस्रं हि सत्यं च तुलया धृतम्।

अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेवात्यरिच्यते ॥

अनेक मनुष्यों के समूह से एक परिवार निर्मित होता है। अनेक परि-वारों का समूह एक समाज ग्राम या नगर कहलाता है अनेक नगरों के समु-दाय से एक राष्ट्र बनता है, और अनेक राष्ट्र मिलकर विश्व कहलाते हैं। यदि सब व्यक्ति अपने अपने मन में शुभ संकल्पों को स्थान देकर शान्ति लाभ कर लें तो यह शान्ति परिवार, ग्राम, नगर और राष्ट्र से होती हुई समस्त विश्व में प्रसृत हो जायेगी । शुभ संकल्पों के महात्म्य के वणन में एक कवि की वाणी इस प्रकार मुखर हुई है—

> वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणाण्मेरुः स्वल्प शिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते । व्याला माल्य गुणायते विषरसः पीयूष वर्षायते, यस्याङ्गे किल लोक वल्लभतर शील समुन्मीयति ।।

जिसके हृदय में शील रूप शिव संकल्प सतत जागरित है उस पुण्य शाली के लिये अग्नि शीतल वारिधारा बन जाती है, समुद्र छोटी कुल्या के समान सन्तरणीय. हो जाता है, सुमेरु पवत भी स्वल्प शिला के समान लंघ-नीय बन जाता है, क्रूर सिंह भी हरिन के समान विनम्रता को धारण कर लेता है, विषधर पुष्पमाला के समान आचरण करने लगता है और कारकूट विष भी अमृत की वर्षा के सदृश जीवन दायक हो जाता है।

जिस देश के मनुष्यों के अन्तःकरण में कल्याणकारी भाव निवास करते हैं वह देश देवों के लिये भो वन्दनीय है। वहां कल्याण जलद शान्ति की वर्षा करते हैं। प्रसाद के शब्दों में—

> जीवन समाधि पर होवे,
> वर्षा कल्याण जलद की।
> सुख सोवे थका हुआ सा,
> चिन्ता मिट जाय विपद की ।।

●●

प्रा० रामप्रसाद वेदालंकार आचार्य एवं प्रोवाइस चान्सलर, अपना स्वागत भाषण प्रस्तुत करते हुए।

समाज में नैतिक प्रजातान्त्रिक एवं वैज्ञानिक मूल्यों की स्थापना

—सुरेश त्यागी, विज्ञान महाविद्यालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

शिक्षा किसी देश की नींव का पत्थर नहीं है, यदि नींव से बालू के ढ़ेर पर टिकी हो तो देश का हाल क्या होगा ? हाल वही होगा जो कि भारत-वर्ष का आज आजादी मिलने के ३९ वर्षों में हो गया है। शिक्षा जगत में चारों ओर निराशा परेश और भ्रष्टाचार का बोल-बाला है। शिक्षा नेता, वकील, डाक्टर, इन्जीनियर, जज शिक्षक और प्रशासक बनाती है और जब ये अनैतिक तौर पर फर्जी डिग्रियां लेकर देश में फैलते जायेंगे और देश पर शासन करेंगे तो देश की नैय्या डूबने में अधिक समय नहीं लेगा। आज लार्ड मैंकाले को कोसने से काम नहीं चलेगा। यह निष्पक्ष होकर कहा जा सका है कि अंग्रेजों के शासन काल में शिक्षा आज जैसा भ्रष्टाचार या अनुशासन-हीनता नहीं थी।

किसी भी रोग के निदान के लिये या बुराई को दूर करने के लिये तीन बातों का जानना आवश्यक है—(१) रोग क्या है, (२) रोग क्यों हुआ और (३) उसका निदान क्या है। अतः हमें पता होना चाहिए कि शिक्षा क्या है, शिक्षा क्षत्र में बुराई कैसे आई और उसका निदान क्या है। मैं संक्षेप में इन बातों का प्रकाश डालूंगा :—

(१) शिक्षा से अभिप्राय हैं कि बालक समाज के लिये उपयोगी बन सके। बालक का शरीर मानसिक और नैतिक विकास इस तरह हो कि वह समाज की उन्नति में सहायक बन सके।

शिक्षा किसी काल के सामाजिक मूल्यों को व्यक्त करती है। शिक्षा की समस्यायें समाज की समस्याओं का प्रतिबम्ब होती है। यदि शिक्षा में कोई कमी प्रतीत होती है तो वह वास्तव मे समाज की कमी का सकेत देती है। आज समाज भ्रष्ट है। अत: उसी के कारण आज की शिक्षा भ्रष्ट है।

(२) पिछले ३८ वर्षों में सत्ता में जमें रहने के लिये राजनेताओं ने खुलकर अनैतिकता, बेईमानी और भ्रष्टाचार फैलाया। शिक्षा विस्तार के नाम पर स्थान-स्थान पर बोगस शिक्षा संस्थायें और यूनिवर्सिटीज खोल दी गई। इनमें बहुत सी तो बुद्धिहरण विश्वविद्यालय या डिग्री लुटाऊ यूनिवर्सीटी के नाम से प्रसिद्ध होने लगी। उन्होंने सड़ा गला माल तैयार करके भारतीय बाजारों में फेंक दिया। अब बिना पढ़े लिखे और बिना विश्वविद्यालय गये पैसे के बल पर फर्स्ट डिवीजन मिल जाये तो विद्यार्थी क्यों पढ़े और गुरु जी क्यों पढ़ायें।

इस प्रकार अयोग्य नवयुवक पैदा होकर समाज के लिये नासूर सिद्ध हो रहे हैं। निराश और बेकार होकर ये समाज में अराजकता और अशान्ति फैला रहे हैं। सन् १०९२ में शिमला में बुलाई गई कांन्फ्रेस में वायसराव लार्ड कर्जन ने किया था ?

'Indian Universities must not grow into the nurseries of discyntented youth with dull brains.'

परन्तु हमने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। इससे शिक्षा का स्तर बहुत गिर गया और यह बात प्रचलित हो गई कि आजकल के ८० प्रतिशत वाला छात्र पहले समय के हाई स्कूल पास छात्रों के बराबर योग्यता नहीं रखते। इस प्रकार शिक्षा प्रसार के जोश में हमने शिक्षा में भ्रष्टाचार का प्रसार कर दिया।

आजादी से पहले ढूंढ़ा करते थे कि कौन बेईमान है और अब समाज में ढूंढ़ना पड़ता है कि कौन ईमानदार है ? शिक्षा का स्तर उठाने का कोई विचार नहीं किया गया। इससे बेकार तथा भ्रष्टाचारी युवकों को फौज तैयार

हो रही है। जैसे तैसे डिग्रियां प्राप्त करके इनका एक मात्र उद्देश्य नौकरी प्राप्त करना ही रह गया है और मजे की बात यह है कि इन अयोग्य लोगों को रिश्वत, सिफारिश तथा जातिवाद के कारण नौकरियां मिल जाती हैं। इस प्रकार भ्रष्ट लोग सरकारी तन्त्र और समाज में भ्रष्टाचार फैलाते हैं।

अंग्रेजी शासनकाल में फर्जी डिग्रियां नहीं बंटती थी। परिश्रम और योग्यता की परीक्षा लेकर ही किसी को नौकरी में लिया जाता था। इसलिए प्रशासन साफ सुथार रहता था। अयोग्य छात्र डिग्रियों के पीछे न भागकर अन्य काम धन्धों में लग जाते थे। इससे शिक्षित लोगों में बेकारी नामपत्र को ही थी।

इस तरह हम इस परिणाम पर पहुंचते है कि शिक्षा के प्रसार के नाम पर हमने शिक्षा का स्तर बहुत नीचे गिरा दिया है और यह ही भ्रष्टाचार का कारण है। शिक्षा पाने के लिये घोर तपस्या करनी पड़ती है जो कि कुछ ही करते हैं। शेष तो अनुचित साधनों से प्राप्त फर्जी डिग्रियां का पुलिन्दा लिये फिरते हैं।

शिक्षा क्या है उसमें बुराई क्यों आई इन दोनों बातों पर प्रकाश डालने के बाद अब मैं सबसे महत्वपूर्ण विषय पर आता हूँ 'शिक्षा में सुधार कैसे हो ?'

१. सरकारी नौकरियों में प्रवेश प्रशिक्षण (कम्पीटीशन) के आधार पर होना चाहिए। न कि परीक्षाओं में प्राप्त डिग्री अथवा अंकों के आधार पर।

२. यदि किसी नौकरी में प्रवेश के लिये न्यूनतम योग्यता हाई स्कूल है तो उसमें केवल हाई स्कूल उत्तीर्ण युवक ही परीक्षण (कम्पीटीशन) बैठने का अधिकार होना चाहिए। उसमें इण्टर, बी०ए० आदि उत्तीर्ण छात्र किसी भी हालत में न बैठने दिये जाए। इससे यह लाभ होगा कि छात्र हाई स्कूल की पढ़ाई परिश्रम और लगन से से करेगा और अपनी मान- सिक सयाथ्र्य को देखकर ही ऊची शिक्षा प्राप्त करने के लिये आगे प्रवेश लेगा, वह जान जायेगा कि बी०ए० आदि की डिग्री लेने का कोई विशेष लाभ नहीं होगा। अतः अपनी योग्यता के अनुसार ही किसी कार्य को चुन लेगा और अपनी आयु, धन और शक्ति बर्बाद नहीं करेगा।

आजकल हाई स्कूल स्तर की नौकरियों को बी०ए०, एम०ए० हड़प जाते हैं और हीनता से ग्रस्त होकर मन लगाकर न तो वे स्वयं काम करते हैं और न ही दूसरों को कार्य करने देते हैं। उनके मन में हर समय चुभन रहती हैं कि मेरे पास ऊंची डिग्री है और मैं हाई स्कूल योग्यता वाले पद पर काय कर रहा हूँ।

इसी प्रकार यहां इण्टरमीडिएट की योग्यता से नौकरी मिलती हो वहां केवल इण्टरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण युवक को ही लिया जाये। यही नियम बी०ए० आदि के स्तर की नौकरियों पर भी तत्काल लागू होना चाहिए। इससे अन्धा-धुन्ध ऊंची डिग्रियों के पीछे निरुद्देश्य होकर नहीं भटकेंगे। इससे कालेजों और विश्वविद्यालयों में अयोग्य छात्रों की भीड़ रुक जायेगी।

३. जूनियर हाई स्कूल अर्थात् आठवीं कक्षा तक की पढ़ाई सबके लिये अनिवार्य हो। आठवीं कक्षा की परीक्षा ईमानदारी तथा सख्ती से ली जाये, योग्य छात्रों को ही उत्तीर्ण किया जाये।

४. हाई स्कूल कक्षा परीक्षण (कम्पीटीशन) के द्वारा छात्र छांटे जाये और पचास प्रतिशत से ऊपर अंक पाने वाले छात्रों को ही नवीं कक्षा में प्रवेश मिले।

५. हाई स्कूल के बाद इण्टरमीडिएठ में प्रवेश के लिये भी लिखित और मौखिक परीक्षण के द्वारा चुने जाने पर प्रवेश के अधिकारी हों।

६. एम०ए० आदि उच्च कक्षाओं में उन्हीं छात्रों को प्रवेश दिया जाय जिनके बी०ए० कक्षाओं में कम से कम साठ प्रतिशत अंक हों। इनका चुनाव भी परीक्षण के द्वारा हो।

७. प्रत्येक स्तर पर परीक्षण होने आवश्यक है, क्योंकि बहुत से विश्वविद्यालय में आज डिग्रियां बांटने की होड लगी है और अंकों के आधार पर हीरा और कोयला एक भाव बिक रहा है। परीक्षण के केन्द्र भी चुने हुए स्थानों पर ही हों, जिससे छात्रों की छंटनी ईमानदारी से हो सके। इसके लिये निष्पक्ष चुनाव आयोग होने आवश्यक हैं। इस योजना

को फिल्ट्रेशन थ्यौरी अर्थात् छानने की प्रक्रिया कहते हैं। दिमाग ईश्वर की देन है। आप सबको इन्जीनियर, डाक्टर या अच्छा प्रशासक नहीं बना सकते। इसलिए इनके चुनाव परीक्षण के द्वारा फिल्टर करके किये जायें। यदि आप मिलिटरी, एयरफोर्स-नेवी आदि में बिना चुनाव के ही सबको भर दें तो देश का जो हाल होगा वह किसी से छिपा नहीं है।

९. एम०ए०, एम०एस०सी० आदि कक्षाओं में उच्चकोटि के प्रतिभाशाली छात्रों को ही प्रवेश दिया जाय और उनकी संख्या सीमित हो।

१०. शिक्षकों को ट्यूशन आदि व्यापार करने से रोका जाय और प्रत्येक शिक्षक का तीन वर्ष में एक बार अवश्य ही घर से दूर स्थानान्तरण हो। इसस शिक्षा में फैली राजनीति कम होगी।

११. जूनियर हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट के स्तर पर फिल्टर (छाँटे हुए) किये हुए छात्रों को उनकी रुचि, योग्यता तथा क्षमता के आधार पर विभिन्न लघु व्यवसायों में लगाया जाय। प्रत्येक छात्र शारीरिक श्रम के कार्यों को हेय दृष्टि से देखता है। इस विचारधारा को समूल नष्ट किया जाय।

यदि शिक्षा में इस प्रकार सुधार कर लिया जाय तो परीक्षाओं में अनुचित साधनों पर शुरू से ही अंकुश लग जायेगा, क्योंकि अधिकतर छात्र मानसिक तोर पर बहुत कमजोर होते हैं और परिश्रमी भी नहीं होते। वे ही कालेजों में अराजकता फ़ैलाते हैं और यूनियन काजी द्वारा संस्थाओं का वातावरण दूषित करते हैं। वे पढ़ने के इच्छुक छात्रों के रास्ते में बाधायें पैदा करते है। इस प्रकार के मन्दबुद्धि और शरारती तत्वों को प्रारम्भ में ही प्रतिभाशाली और परिश्रमी छात्रों से अलग कर देना उचित होगा। इससे शिक्षणालय शिक्षा के मन्दिर बने रहेंगे।

१२. प्राय: ऐसे नेताओं को शिक्षा के उच्च पदों पर आसीन कर दिया जाता हैं जिन्हें शिक्षा का कोई अनुभव नहीं होता। देश के नेताओं का चुनाव भी प्रतिभा, विद्वता, ईमानदारी, समाज सेवा और उच्च चरित्र के आधार

पर ही होना चाहिए। प्रत्येक राजनीतिक पार्टी का देश और समाज के प्रति यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वे इन गुणों के आधार पर ही अपना उम्मीदवार चुने क्योंकि नैतिकता और उच्च विचार ऊपर के लोगों से कहकर नीचे के आम लोगों तक आते हैं और इसलिये कहा भी है कि जैसा राजा वैसी प्रजा। अत: शिक्षा के सम्बन्ध उच्च पदों पर शिक्षा शास्त्रियों को ही बिठाया जाय।

ऐसा करना से युवकों में अनुशासनहीनता, निराशा, बेकारी और भ्रष्टाचार का फैलना बन्द होगा। समाज के प्रतिभाशाली, ईमानदारी, परिश्रमी और देशभक्त युवकों के हाथों में देश को पागडौर होगो। इस प्रकार देश में सुख शान्ति फैलेगी, समाज में भ्रष्टाचार और अराजकता खत्म होगी और देश सुख समृद्धि और उन्नति की और बढ़ेगा।

—❀❀—

विश्व समस्याओं का वैदिक निदान

डा० मनुदेव बन्धु, वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

वेदों की प्राचीनता और महत्ता सर्वविदित है। वेद अपौरुषेय है, ईश्वरीय वाणी है, यह भी निर्विवादरूपेण सर्वतोमान्य। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी वेदों की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए कहा—"वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है"। पाश्चात्य वैदिक विचारक मैक्समूलर ने भी कहा है— The Rigved is oldest book in the library of mankind.

वेदों का लक्ष्य प्राणिमात्र का कल्याण करना है। आज के वर्गवाद, जातिबाद, सम्प्रदायवाद तथा अन्य सभी संकीर्णताओं से ऊपर उठकर शाश्वत जीवन मूल्यों को व्याख्या करना वेद का पवित्र लक्ष्य है। यह भी निर्विवाद है कि वेद के वाक्य जितने हितकारी भारत वासियों के लिए हैं, उतने ही हितकारी यूरोप, अमेरिका तथा अन्य देशवासियों के लिये हैं। सदा मानव हित की भावना को हृदय में संजोये हुए "श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुन्नाः" का संदेश देने वाला वेद ही है। तो आईये देखें वे क्या जीवनमूल्य हैं ? जिनकी जीवन में नितान्त आवश्यकता है तथा उन जीवनमूल्यों की प्रासङ्गिकता का चित्रण वेदों में है।

वेदों में मानवजाति के उन्नयनहेतु जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, उन्हें धर्म का नाम दिया जाता है। धर्म धारण करने वाला है। जो ज्ञान या कर्म पतन से बचाता है, उसका जो उपदेश दे, वही धर्मग्रन्थ है। वेद के आदेश और उपदेश हमें नीचे गिरने से ही नहीं बचाते अपितु ऊपर उठने को भी प्रेरणा देते हैं।

ज्ञान तथा कर्म के क्षेत्र में देश की ख्याती अर्जित कर चुके हैं। एथेन्स की कला तथा स्पार्टा का शौर्य विश्वविख्यात है। आज यूरोपीय देश विज्ञान तथा कर्म के क्षेत्र में बहुत आगे निकल गये हैं। चन्द्रतल का स्पर्श करने वाले अमेरिका और रूस की सर्वत्र प्रशंसा हो रही है। विध्वंसक अस्त्रों के निर्माण में भी श्लाघनीय स्पर्धा हो रही है। पड़ोसी देश मुख में शान्ति-शान्ति का राग आलापते हुए पीछे शस्त्र सञ्चय क्षमता में उत्तरोत्तर बृद्धि कर रहे हैं। परमाणु विस्फोट कब कहां हो जाये, कुछ कहा नहीं जा सकता। विज्ञान निर्माणात्मक न होकर विध्वंसात्मक अधिक हो गया है। पर क्या मानव इस से सुखी हो सकता है ? पल-पल आशंका से ग्रसित, भविष्य की ओर से भय-भीत वह भीषण अस्त्रों का निर्माण अपने त्रास के लिए करता जाता है, पर त्रास उससे उतना ही दूर भी होता जाता है। इस न्यूनता की पूर्ति कैसे होगी ? अथर्वेद कहता है—"मूर्धानमस्य संसीव्या अथर्वा हृदयं च यत्"—मानव अकेला विज्ञान तुझे शान्ति नहीं दे अकेगा। इससे मस्तिष्क का विकास तो होगा, हृदय का विकास यह नहीं कर सकेगा। तू हृदय का भी विकास कर। हृदय और मस्तिष्क को सीकर एक कर लें, विज्ञान और श्रद्धाभाव का समन्वय कर, शान्ति तेरी चिरसङ्गिनी बन जायेगी। अपर्ग का यह अध्यात्म आज के विज्ञान को चेतावनो दे रहा है। सृष्टि के प्रारम्भ में वेद यदि इस आदर्श को मानवता के समक्ष रख सकता है, तो वह निस्सन्देह अलौकिक ही कहा जायेगा।

वैदिक यज्ञ विधान और उसकी तत्कालीन प्रचलित परिपाटी से विक्षुब्ध होकर जिन वैष्णव, बौद्ध एवं जैन सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ वे भी वैदिक आचार पद्धति से विमुख नहीं हो सके। गीता वेदवाद की निन्दा करती है, पर सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, तप तथा श्रद्धा आदि का सबल शब्दों में प्रतिपादन भी करती है। बौद्धों का अष्टाङ्ग माग, आर्य मार्ग है। बौद्धों की मध्यमा प्रतिपदा "विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह" तथा यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह" की प्रतिध्वनि मात्र है। जैनियों के ऋषभदेव का तपोमाग, अन्य तीर्थकरों की भी अहिंसा भावना वेद सम्मत साधना के ही अन्तर्गत है वैष्णवों ने एकायन वेद को वेदचतुष्टय के स्थान पर प्रतिष्ठित किया था। पर बाद में वैष्णव बेदों के अनुयायो हो गये। महायान में ऐसा ही समन्वय नागार्जुन ने किया था।

जीवनमूल्यों की व्याख्या कर्त्तव्याकर्त्तव्य से होत. है ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

यजुर्वेद ४०-२

सत्कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करो । कर्तव्य कर्म की साधना करने वाले नर कर्मलिप्त नहीं होते । निर्लेपता के लिये इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है । चरैवेति—चरैवेति—चलते रहो, कर्तव्यकर्म करते रहो । आलसी बन कर मत बैठो । स्वप्निल व्यक्तियों में दिव्यता का समाचार नहीं हो सकता । कर्म केवल कर्म के लिए, कर्तव्यपालन के लिये है—ऐसा ध्यान रहे तो सिद्धि अनश्यम्भावी है ।

धनवानों को चाहिए कि वे प्रार्थनाशील भिक्षुक को दान देकर तृप्त करें। भोजन करना उसी का सार्थक है, जो घर आये हुए अन्न की कामना वाले दीन व्यक्ति को भोजन देता है ।

"अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व" जुआ मत खेलो, कृषि करो । उस से जो धन मिले उसी को बहुत समझो और आनन्द में मग्न रहो । इसी गाढ़ी कमाई से तुम्हारे घर में गौये रहेंगी और तुम्हारी पत्नी भी तुम्हारी होकर प्रसन्न रहेगी ।

●●

'योग और विश्व समस्यायें'

आज विज्ञान का युग है। विज्ञान ने अत्यधिक सुख सम्पन्नता और सुविधा प्रदान की है। चिकित्सा और तकनीकी के क्षेत्र में नये-नये आविष्कारों से दिनों-दिन विकास हो रहा है। आज का मानव चांद पर पहुंच गया है। कम्प्यूटर का प्रयोग हो रहा है आदि आदि। दूसरी ओर आतंकवाद, अन्तरिक्ष युद्ध, परमाणु बम, मनुष्यों की बढ़ती हुई राजसिक और तामसिक प्रवृत्तियों आदि से आज मानव जाति को खतरा उत्पन्न हो गया है। न जाने कब पृथ्वी पर से मानवजाति का अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है। चारों ओर विश्व में में इन खतरो की चर्चा हो रही है। विचारक अपने-अपने क्षेत्र में इन खतरों से बचने के लिये विचार कर रहे हैं। योग भी विश्व में शान्ति की वृद्धि करने में सक्षम है।

योग में यम और नियम साधना के दो आधार माने गये हैं। इन दोनों का आधार माने गये है। इन दोनों का आधार अहिंसा है जो कि यम का पहला अंग है। योग दर्शन में कहा गया है कि योगी को जब अहिंसा की सिद्धि हो जाती है तो उसके क्षेत्र में रहने वाले अन्य प्राणियों के मन में भी वैर भावना समाप्त हो जाती है।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सनिधौवैरत्याग:। यो०सू० २।४५

यहां तक कि उन प्राणियों में भी जिनमें कि स्वाभाविक वैर भावना होती है उनमें भी यह भावना समाप्त हो जाती है। उदाहरण के रूप में कहा गया है कि सर्प और नेवले, सिंह और बकरी का स्वाभाविक वैर भी समाप्त हो जाता है। सिंह और बकरी के एक ही घाट पर पानी पीने की बात कही गयी है। अतः साधना के इस सिद्धान्त के आधार पर यह सम्भव है कि विश्व में बढ़ती हुई हिंसा की प्रवृत्ति को अहिंसा की सिद्धि से समाप्त किया जा सकता है।

यम का दूसरा अंग सत्य है। वर्तमान समय में मन वचन और कर्म तीनों स्तर पर सत्य का ह्रास हुआ है। झूठ के बलबूते पर सत्य को असत्य और असत्य को सत्य बनाया जा रहा है। वतमान समय में असत्य का बोल-बाला हो रहा है। इससे समाज में भ्रष्टाचार, असन्तोष अन्याय की वृद्धि हो रही है। जहाँ असत्य बोलने से आत्मिक ह्रास होता है वहां भौतिक और सामाजिक जीवन में भी बहुत हानियां होती हैं और तरह-तरह की समस्यायें बढ़ती हैं। यम का तीसरा अंग अस्तेय हैं। अस्तेय का अर्थ है मन, वचन और कर्म से चोरी का त्याग करना। चोरी, लूट-पाट, डकैती घूस, मिलावट आदि सब स्तेय ही हैं। इन सबके कारण जहां नैतिक ह्रास हो रहा है वहीं समाज राष्ट्रों और विश्व में अराजकता, दुःख, अन्याय और असुरक्षा आदि समस्यायें बढ़ती जा रही हैं। अब औषधियों में भी मिलावट हो रही हैं जिनसे रोगियो का जीवन उल्टा खतरे में पड़ जाता है। औषधियों में मिलावट करके मनुष्य किन्हीं मनुष्यों को मृत्यु के मुंह में धकेल कर भी अपने स्वार्थ की सिद्धि करके अपने को सौभाग्यशाली समझता है और सुखी अनुभव करता है। यह एक ऐसा उदाहरण है जो यह सिद्ध करता है कि मानव जाति का अत्यधिक नैतिक और मानसिक चेतना का ह्रास हुआ है। यदि अस्तेय का पालन किया जाय तो इन सब समस्याओं का निराकरण हो जाय। इस पृथ्वी पर सुखों और शान्ति की वृद्धि होवे।

यम का चौथा अंग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी वह तो होता ही है जो काम पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त करता है परन्तु हमारे शास्त्रों के अनुसार पत्निव्रत पुरुष और पतिव्रत स्त्री भी ब्रह्मचारी कहलाते हैं। यह ब्रह्मचर्य गृहस्थियों का है। यदि कोई से स्तर पर भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय तो बलात्कार आदि घटनाये समाप्त हो जाय। सुरक्षा की भावना विकसित होवे। एड्स का फैलता हुआ रोग जो कि चिकित्सा विज्ञान के लिये एक नयी व विकट समस्या बना हुआ है, वह स्वतः ही समाप्त हो जाय। मनुष्यों में उत्साह और ज्ञान की वृद्धि होवे।

यम का पांचवा अंग अपरिग्रह है। अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकता से संग्रह न करना है। दूसरे शब्दों में हम यूं कह सकते हैं कि संग्रह करके केवल अपने लिये ही नहीं जीना है बल्कि दूसरों के लिए छोड़कर उनकी आवश्य-

कताओं की पूर्ति का साधन जुटाना है। अपरिग्रह पर हम विचार करें तो ज्ञात होता है कि अपरिग्रह के पालन से विश्व को अनेक समस्यायें समाप्त हो सकती हैं। वतमान समय में मनुष्य का मापदण्ड उसको धन सम्पत्ति से होता होता है। इसोलिये आज चारों ओर धन संग्रह को होड़ लगी हुई है। कुछ मनुष्य धन सम्पत्ति का संग्रह करने के लिये न्याय, धर्म आदि की सब सोमाओं को तोड़ रहे हैं। धन का संग्रह करके मनुष्य अपने को बड़ा देखना चाहता है। संग्रह की भावना किसो सीमा तक तो ठीक है परन्तु जब मनुष्य संग्रह पर ही कन्द्रिभूत हो जाते हैं तब अनेकों समस्याओं के बढ़ने को सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। यही वर्तमान समय में चारों ओर दिखलाई पड़ रहा है। धन सम्पत्ति के संग्रह के लिये बहुत से मनुष्य विश्वत्, लूट-पाट, मिलावट, करों की चोरी, धोखाधड़ी आदि का खूब प्रयोग कर रहे हैं। भावना यह हो गयी है कि चाहे जैसे भी, जिस भी तरीके से धन अधिक से अधिक एकत्रित होना चाहिए। इससे समाज में भ्रष्टाचार, अव्यवस्था बढ़ रही हैं। तस्करी दिनों-दिन बढ़ रही है। नशीलो दवायें बेची जा रही हैं। काले धन के अम्बार लगे हुए हैं। अमीर और अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब हो रहे हैं। राष्ट्रों की सरकारें की अपनी योजनाओं को सफल बनाने में पूर्णरूपेण सफल नहीं हो रही हैं। यदि अपरिग्रह का पालन किया जाय तो इन सभी समस्याओं का निराकरण हो जाय। गरीबी हटाओं आन्दोलन सफल हो जाय। अमीर और ग़रीब के बीच की खाई समाप्त हो जाय। मिलावट और करों की चोरी न रहे। जो शक्तिशाली राष्ट्र अपनी शक्ति के बल पर, बमों के प्रयोग से अन्य राष्ट्रों को अपनो प्रभुसत्ता के लिये तबाह कर देना चाहते हैं, वें ऐसा न करें बल्कि अन्य राष्ट्रों को सहायता प्रदान करके मानवता के सच्चे सुख को प्राप्त करें।

यम के बाद साधना का दूसरा अंग नियम है जिसका पहला अंक शौच है। शौच के दो प्रकार हैं—बाह्यशौच और आभ्यन्तर शौच। बाह्यशौच से निरोग्यता बढ़ती है। आभ्यन्तर शौच का अर्थ चित्त के मलों को धोना है। काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार चित्त के मल हैं। यदि मनुष्य अपने इन मलों को थोड़े रूप में भी धो लें तो बहुत सो समस्यायें समाप्त हो सकती हैं। सच देखा जाय तो काम, क्रोध, अहंकार आदि ही तो मुख्य रूप से विश्व की

वर्तमान समस्याओं के मूल कारण हैं। वास्तव में समस्याओं के ये ही मूल ही कारण सदा ही मुख्य रूप में होते हैं।

यम का दूसरा अंग सन्तोष का अर्थ भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठना नहीं है बल्कि अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार अधिक से अधिक परिश्रम करके जो फल प्राप्त होवे उससे सन्तुष्ट रहना है। परिश्रम करने में किसी प्रकार की कमी करना सन्तोष नहीं है। आज चारों तरफ असन्तोष बढ़ता जा रहा है। बहुत से मनुष्य बिना किये ही बहुत कुछ पाना चाहते हैं या फिर कम से कम परिश्रम करके अधिक से अधिक पाना चाहते हैं। अधिकार के लिये लड़ते हैं, कर्त्तव्य से बचना चाहते हैं। शोर्टकट की तलाश में रहते हैं। इसके लिये अनेक मनुष्य तरह-तरह के अनुचित रास्ते भी अपनाते हैं। नशोली दवाओं का व्यापार, तस्करी आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन सबसे अनेक प्रकार की समस्यायें विश्व स्तर पर उत्पन्न हो रही हैं। अपराध बढ़ रहे है, भ्रष्टाचार फैल रहा है। सन्तोष के वास्तबिक स्वरूप को समझकर उसका पालन करने से विश्व में सुख और शान्ति की वृद्धि हो सकती है।

यम का तीसरा अंग तप है। तप का अर्थ सहनशीलता है। वतमान समय में सहनशीलता का अभाव होता जा रहा है। इसका सबसे अधिक कुप्रभाव युवकों पर पड़ रहा है जो जरा-जरासी बातों पर लूट-पाट, आगजनी तथा हत्याओं आदि तक उतारू हो जाते हैं। सहनशीलता के अभाव में घर-परिवार, शिक्षा-संस्थाओं, बाजारों, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर अनेक समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं।

चौथा अंग स्वाध्याय है। स्वाध्याय से मनुष्य की बुद्धि पवित्र होती होती है। अच्छे संस्कार पड़ते हैं जिनसे मनुष्य श्रेष्ठ कर्मो में प्रवृत्त होते हैं। पांचवा अंग ईश्वर प्राणिधान है। यही गीता के कर्मयोग का मूल सिद्धान्त है। यह अंहकार को समाप्त करने की प्रक्रिया है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर अहंकार से ऊपर उठने के प्रयास दिखलाई पड़ते हैं। देखा जाय तो सारे झगड़ों का कारण अहंकार ही तो है। अहंकार की जितनी अधिक प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है उतने ही क्लेश बढ़ते जा रहे हैं।

इस प्रकार यम और नियम जो कि सार्वभौमिक नियम हैं, को यदि गम्भीरता से देखा जाय तो इनके पालन से विश्व की बहुत सी समस्याओं का निराकरण हो सकता है।

इसी प्रकार षट्कर्मों, आसन, व प्राणायाम से शरीर की शुद्धि, निरोग्यता, शक्ति और मन, बुद्धि को पवित्रता की वृद्धि होती है। ध्यान तथा समाधि से तो मनुष्य बहुत ऊंची अवस्थाओं में पहुंच जाता है। स्वरूप-अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य भीतर और बाहर से स्वतन्त्र हो जाता है। उसमें अथाह आत्मिक बल हो जाता है। वह बड़ो-बड़ी समस्याओं का निराकरण करने में सक्षम हो जाता है। वह मनुष्यों को शान्ति, एकता व भाईचारे के सूत्र में बांध सकता है। इतिहास इसके लिये साक्षी है। गोतमबुद्ध, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी आदि-आदि इसके लिये अनेकों उदाहरण हैं। इन महापुरुषों ने विश्व में फैले हुए अन्धकार को मिटाने का बहुत कार्य किया है। अतः योग विश्व की समस्याओं के निवारण में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

—❀❀—

राष्ट्रीय संगोष्ठी–

विश्व की प्रमुख ज्वलंत समस्याओं का दार्शनिक निदान

संस्तुतियां

आज सम्पूर्ण विश्व अनेक भीषण समस्याओं के कराल जाल में इस प्रकार आबद्ध है कि ज्यों-ज्यों उससे उद्धृत होने का प्रयास किया जाता है त्यों-त्यों बन्धन ग्रन्थियां और भी दृढ़ होती जाती हैं। क्षेत्रीयता, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता, अदम्य आतंकवाद, युवापीढ़ी का गिरता हुआ नैतिक स्तर, मानसिक तनाव, नशाखोरी, दहेजप्रथा, शिक्षित समाज में बढ़ता हुआ छद्म आचरण, भाषावाद और अवसरवादी राजनीति आदि समस्यायें ऐसी विकट हैं कि सुलझने के स्थान पर और उलझती जाती हैं। इन समस्याओं के समाधान के लिए संगोष्ठी ने दार्शनिक स्तर पर विचार किया है और निम्नलिखित संस्तुतियां प्रस्तुत की हैं—

१—यह सत्य है कि समस्याओं के प्रजनन में कुछ सीमा तक भौगोलिक विषम परिस्थितियां और प्राकृतिक परिवेश भी कारण होता है, किन्तु समस्याओं का प्रथम और अन्तिम मूलकारण मानव का उच्छृंखल मन ही होता है। शास्त्रकारों की दृढ़ धारणा है कि बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। मन यदि दृढ़ है और अध्यवसाय पूर्वक कृत संकल्प हो तो समुन्नत प्रवाह का रुख मोड़ा जा सकता है। अतः सब प्रकार की समस्याओं के निराकरण के लिये मानसिक संयम परमावश्यक है।

२—मानव जीवन का लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति ही नहीं अपितु

आध्यात्मिक को भी समुन्नत बनाना होना चाहिए। केवल भौतिक उन्नति समाज में ईर्ष्या आलस्य और भय को जन्म देती है। आध्यात्मिक अस्त्र से ही इन बुराइयों का उच्छेद सम्भव है।

३—आजकल मानवीय मूल्य बदल गये हैं। प्रायः भौतिकवादियों की ओर से यह सम्मति दी जाती है कि बदले हुए मानव मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में ही व्यक्ति और समाज का व्यवहार निर्धारित होना चाहिए। किन्तु इस संगोष्ठी में उपस्थित मनीषी वक्ताओं ने संस्तुति की कि कुछ दार्शनिक तथ्य ऐसे हैं जो सार्वभौम हैं, जो कभी नहीं बदलते और न ही उनकी उपेक्षा की जानी चाहिए। जैसे ही उनकी उपेक्षा की जाती है त्यों ही दुःखों की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में पांच पर समस्त विश्व में शान्ति और सुख की वर्षा कर सकते हैं।

४—आतंकवाद की समस्या दार्शनिक स्तर पर सहज ही सुलझायी जा सकती है। प्रायः कायरता, जीवन के प्रति अत्यधिक मोह, आत्मा की अमरता का अज्ञान तथा परमेश्वर में विश्वास का अभाव आदि कारणों से ही आततायियों को खुल कर खेलने का अवसर मिलता है। यदि काय का साधमेयम्, देहं पातेयम्' की दृढ़-भावना-कवच से मण्डित होकर, जीवन का मोह छोड़ कम, सुख दुःख से निराकांक्ष होकर और भय का परित्याग करके आततायी का विरोध किया जाये तो आतंकवाद की समस्या कुछ ही समय में कथावशेष हो सकती है।

५—बुभुक्षा और दरिद्रता का समाधान अध्यवसाय और उद्योग में छिपा हुआ है। यद्यपि चिन्तन से भूख नहीं मिटा करती, किन्तु दार्शनिक चिन्तन से अनावश्यक कामनाओं को बढ़ने से रोका जा सकता है। दार्शनिक चिन्तन बताता है कि कामनाओं के उपभोग से कामनायें शान्त नहीं हुआ करतीं। घृत से अग्नि के समान वे उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। जिसकी लालसायें समृद्ध हैं उसके लिए कुबेर का कोष भी थोड़ा है और जो जितेन्द्रिय तथा पूर्ण काम है उसके लिये समस्त सम्पदा तृण तुल्य है।

६—क्षेत्रीयता तथा प्रान्तवाद जैसी बुराइयों को "वसुधैव कुटुम्बकम्" की पावन भावना के अस्त्र से उच्छिन्न किया जा सकता है।

७—जातिवाद साम्प्रदायिकता तथा धार्मिक कट्टरता की समस्या दार्शनिक चिन्तन के समक्ष कोई ब्रह्मत्व नहीं रखती। मानवतावाद के एक ही प्रहार से इनका निकारण हो सकता है।

८—आजकल राजनीति का अर्थ छल. कपट, अवसरवादिता, स्वार्थ-साधन, धनोपाजन और परिवार पोषण रह गया है। वस्तुत: राजनीति के पंक को श्रवण और मनन के जल से प्रक्षालित किया जा सकता है। एक राजनीतिज्ञ का वस्तुत: डा० राधाकृष्णन के समान एक दार्शनिक होना चाहिए।

९—विश्व में शस्त्र बल के संवधन में एक होड़ सी लगी हुई हैं; सुरक्षा के नाम पर ऐसे ऐसे भीषण मारक अस्त्र बना लिये गये हैं जो कुछ ही क्षणों में समूची मानव सभ्यता को कथावशेष कर सकते हैं किन्तु विश्व का प्रभुवर्ग यह बात भूल गया है कि जब तक शस्त्र बल के ऊपर शास्त्र का नियन्त्रण नहीं होगा तब तक शस्त्र बल शत्रुओं के साथ साथ शस्त्रधारक का भी विनाश कर देगा। अत: शस्त्र के ऊपर शास्त्र का नियन्त्रण होना चाहिए।

१०—जो शिक्षक समाज और राष्ट्र का उन्नायक होना चाहिए था वह आज एक सुशिक्षित छद्मचारी बन कर रह गया है। प्रत्येक शिक्षक चाहे वह किसी भी विषय का क्यों न हो सबसे पहले उसे दार्शनिक होना चाहिए, तभी वह छात्र को समुचित दिशा निर्देश कर के स्वच्छ समाज और स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण कर सकता है।

११—मानसिक तनाव आज एक विकट अचिकित्सनीय रोग बना हुआ है। ऐसी बात नहीं है कि व्यक्ति के मन पर केवल अन्नाभाव की चिन्ता आरूढ़ हो। धनपति और निधन, सबल और निर्बल, स्वामी और सेवक, परिवार का प्रत्येक बालिग युवक, आफिस का प्रत्येक सदस्य आज तनाव और कुण्ठाओं से ग्रस्त है। तनाव की चिकित्सा केवल दर्शन शास्त्र में है। जब रोग मानसिक है तो चिकित्सा भी आध्यात्मिक स्तर पर ही हो सकती है। अष्टाँग योग के पालन से तनाव को समूल नष्ट किया जा सकता है। गृहस्थ जीवन में

भी सम्यक चिन्तन सम्यक् व्यायाम सम्यक् चरित्र आदि मध्यम मार्ग का सेवन किया जा सकता है।

१२ --नशाखोरी के जहां अनेक कारण हैं वहां एक कारण यह है कि जब मानसिक तनाव असह्य होने लगता है तब उससे तात्कालिक मुक्ति के लिए व्यक्ति नशीले द्रव्यों का सेवन करता है। किन्तु नशीले पदार्थों के सेवन से रोग घटने के स्थान पर और अधिक बढ़ने लगता है। दर्शन शास्त्र में इस की चिकित्सा बताई गई है। कामनाओं को बढ़ने से रोकना, किसी आलौकिक शक्ति पर विश्वास, परमगुरु को समर्पण, ईश्वर प्राणिधान, अभ्यास और वैराग्य तथा प्राणायाम से वस आदत पर विजय पायी जा सकती है।

१३—नैतिक स्तर और चारित्रिक स्तर को उन्नत बनाने के लिए दर्शन शास्त्र का अध्यत्पन प्रत्येक कक्षा में अनिवाय कर देना चाहिए।

१४—भाषा और संस्कृति समाज और राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने और उन्हें विभाजित करने के बहुत बड़े कारण हैं। इनकी एकता योजक है और अनेकता विभाजक है। सार्वभौम नैतिक आदर्श और मन की विशालता से इस समस्या पर भी विजय पाई जा सकती है।

निदेशक

●●

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् एवं राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधियाँ के नाम की सूची

क्र०सं०	नाम प्रतिनिधि	पता
१.	प्रो० एम०पी० मराठे	पुणे विश्वविद्यालय
२.	श्री शरद कुमार	नेहरू नगर, गाज़ियाबाद
३.	श्री आनन्द कुमार	नेहरू नगर, गाजियाबाद
४.	श्री टी०सी० अरोड़ा	डिप्टी पब्लि०, दिल्ली
५.	डा० गोरखनाथ मिश्र	गोवा वि०वि०, गोवा
६.	श्री गोपाल सिंह	युनाइटेड बुक हाउस, दिल्ली
७.	डा० बी०एस०सी० प्रसाद	रीडर दर्शन विभाग, जमशेदपुर
८.	श्रीमति शोभा प्रसाद	,, ,,
९.	कुमारी अनुपमा प्रसाद	,, ,,
१०.	कुमारी निरुपमा प्रसाद	,, ,,
११.	डा. एल०जी० चिन्चोलकर	नागपुर वि०वि०, नागपुर
१२.	प्रो० डांगोरे	,, ,,
१३.	डा० नितिन जे० व्यास	तत्वज्ञान विभाग म०स०वि०वि० बड़ौदा।
१४.	श्रीमति शान्ति त्रिपाठी	लोहागढ़, मुरादाबाद
१५.	श्री अनुराग त्रिपाठी	,, ,,
१६.	डा० एस०के० नवल	गवर्मैन्ट कालेज, भटिण्डा, पंजाब
१७.	श्रीमती रूपारानी	,, ,, ,,
१८.	डा० रतनचन्द्र	,, ,, ,,
१९.	श्रीमती सुमन	,, ,, ,,
२०.	श्री एस०एस० मल्होत्रा	,, ,, ,,

क्र०सं०	नाम प्रतिनिधि	पता
२१	श्रीमति मल्होत्रा	गवर्मेन्ट कालेज, भठिण्डा. पंजाब
२२.	श्री विपुल कुमार	,, ,, ,,
२३.	डा० महेश भारतीय	एम.एम.एच.कालेज,गाजियाबाद
२४.	डा० मालचन्द्र सेन्दुलोकर	पुणे वि०वि०, पुणे
२५.	डा० प्रमसागर	एम०डी०विवि, रोहतक
२६.	डा० जगदीश खेर	गुरुनानकदेव वि०वि०, अमृतसर
२७.	श्रीमती चन्द्रप्रभा	,, ,, ,,
२८.	डा० एस०एन० रस्तौगी	बरेली कालेज, बरेली
२९.	डा० योगेन्द्र त्रिपाठी	लाजपतनगर, नई दिल्ली
३०	डा० जे० पी० आत्रेय	के०जो० कालेज, मुरादाबाद
३१.	डा० कैलाशनाथ सिंह	बघला दुबहा, इलाहाबाद
३२.	श्रीमती शान्ति सिंह	,, ,,
३३.	श्री वाई०एस० तिवारो	६/३२५, नई दिल्ली
३४.	डा० एम०एन० पाठक	भागलपुर वि.वि.(मधुपुर कालेज)
३५.	डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय	काशी हिन्दू वि०वि०, वाराणसो
३६.	डा० आई०एन० सिन्हा	पटना वि०वि०, पटना
३७.	श्रीमती रेणुका सिन्हा	,, ,,
३८.	श्रीमती मजुरानी वर्मा	,, ,,
३९.	डा० रमाशंकर श्रीवास्तव	रांची वि०विद, बिहार
४०.	डा० एस०एस० सहाय	पटना वि०वि०
४१.	डा० एल०पी० सिन्हा	,, ,,
४२.	डा० सत्यस्वरूप सारस्वत	कानपुर वि०वि०, कानपुर
४३.	डा० राघवेन्द्र पाण्डेय	मगध वि०वि०, मगध
४४.	प्रो० नित्यानन्द मिश्र	भागलपुर वि०वि
४५.	श्रीमती मिश्र	,, ,,
४६.	डा० अम्बिकादत्त शर्मा	बनारस वि०वि०
४७.	डा० छाया राय	जबलपुर वि०वि०, जबलपुर
४८.	डा० डो० आर० भण्डारी	गुरुनानकदेव वि० वि०, अमृतसर

क्र०सं०	नाम प्रतिनिधि	पता
४६.	श्री कौशल दुबे	रानी दुर्गावती वि०वि०,जबलपुर
५०.	डा० जे० ए० याज्ञिक	गुजरात वि० वि०
५१.	श्रीमती उर्मिला याज्ञिक	,, ,,
५२.	प्रो० सी०बी० रावल	गवर्मट कालेज, जूनागढ़ (सौराष्ट्र वि० वि०)
५३.	डा० अखिलेश भारद्वाज	बरेली कालेज़, बरेली
५४.	श्री राजेश बौखण्डी	,, ,,
५५.	डा० जे०एस० पाण्डेय	के०जी०के० कालेज, मुरादाबाद
५६.	श्री अशोक गुजराती	,, ,, ,,
५७.	कु० रजनी रानी	,, ,, ,,
५८.	डा० यू० एस० विष्ट	देहली वि०वि० देहली
५६.	डा० विभा गौड़	गढ़वाल वि०वि०, श्रीनगर
६०.	डा० एम०एल० शर्मा	जोधपुर वि०वि०, जोधपुर
६१.	डा० जाकिर अली	के०जी० के० कालेज, मुरादाबाद
६२.	डा० एस० के० सिंह	गोरखपुर विश्वविद्यालय
६३.	डा० एल० के० गुप्ता	मिथिला वि० वि०, बिहार
६४.	डा० रघुवंश झा	,, ,, ,,
६५.	डा० कृष्ण कुमार झा	,, ,, ,,
६६,	प्रो० सतीशचन्द्र पाठक	,, ,, ,,
६७.	डा० अरुण कुमार ठाकुर	,, ,, ,,
६८.	डा० आर० पी० श्रीवास्तव	बिहार वि० वि०
६६.	डा० जयदेव वेदालकार	गुरुकुल कांगड़ी
७०.	डा० विनोद कुमार	कुरुक्षेत्र वि०वि०, कुरुक्षेत्र
७१.	डा० के० एस० ओझा	काशी हिन्दू वि० वि०
७२.	श्री बी० आर० सडाना	किग्जवे कैम्फ, नई दिल्ली

क्र०सं०	नाम प्रतिनिधि	पता
७३.	श्री वीरेन्द्र शर्मा	लालकुआं, दिल्ली
७४.	डा० रामजी सिंह	अध्यक्ष अखिल भा० द० परिषद्
७५.	डा० महावार	दिल्लो वि०वि०, दिल्लो
७६.	डा० एन०के० देवराज	लखनऊ
७७.	डा० एस० आर० भट्ट	दिल्ली विश्वविद्यालय
७८.	श्रीमती भट्ट	,, ,,
७९.	डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा	होशियारपुर, स मान्य अध्यक्ष अ०भा०द० परिषद्
८०.	श्रीमती शर्मा	,, ,,
८१.	डा० एस० के० सिंह	बिहार विश्वविद्यालय, बिहार

●●

राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन में उपस्थित जनसमूह का एक दृश्य

आंग्ल भाषा खण्ड

Vedic VieW Of Life

Inder Dev Khosla, Advocate
Senior Vice President
Arya Vanprasth Ashram,
Jwalapur (Saharanpur)

:"A mutual debt binds man to the Supreme,
We are sons of God and must be even as He,
His human portion, we must grow divine."

All mankind Islovn for perfection and ench shall attainit will be but follw his natuves duty gita 18.45

Vedas portray God as Virat Purusha and from Him this fashioned world came into being in its various forms.

ततो विरडजायत विराजो, अधि पूरुष: ।
स जातो अत्यरिच्वत् पश्चाद्भूमिमथो पुर: ॥

(Tato Virat jayat Virajo Adhipurushah. Sa Jato atyriahyat pashchad bhumintho putal.)

From Him Virat was born and,
From Virat was born purusha,
Born but remaining aloof His creation
He spread over the earth from,

Beyond and in front. (Yajh 31.5)

This Virat Purusha when thought of creating human being He first of all created ten Prajapatis who were named Marichi, Pracheta, Visishtha, Bhrigu, Narda, Atri, Angira, Pulah, Pulasatya and Kritu.

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यम्पुलहक्रतुम् ।
प्राचेतसं वसिष्ठञ्च भृगुन्नारदमेव च ॥

(Marichi matyangirasa Pulastyan Pulha Kritum, Prachetsm Vsishitchan Bhrigun Nard mev cha) (Manu 1.35)

There after seven Manu, Devta and Maharishis were born. All these then created animate and inanimate objects. Man's creation is related to Manu, there fore, the man came to be known as Manushya (off spring of Manu). (Manu 1.36)

This very fact is described by Yajurveda as under :–

मनुष्या ऋषयश्च ये । ततो मनुष्या अजायन्त ॥

(Manushya Rishashyasheh ye tato Manushya Ajayant)
All these men (Purushas) were of one caste or kind and only of one specie. It is only afterwards that Arya and dasu were distinguished by rheir activities.

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यव:

(Vijanihyar yanyo ch dasyvan) (Rig. 1.51.3)

Further more in Atharv Veda it is stated that :—

पुरश्रो ब्रह्मणो वेद यस्या: पुरुष उच्चते ।

It means that since Brahman resides in the body of the human being so he is called purusha. He is called the a bode of Brahman and is identical in some aspects with Him. He is the finale of God's creation hence more properly described as quintésseence of the cosmic rpocess or the symbol and embodiment of divinity.

Brihdaranyaka Upnishada explains the creation of man in another way. In the begining God felt alone so he wanted a second companion to keep happy. He became as large as a woman and man in the embrace. He caused that self to fall into two parts, husband and wife. (Brih. 1.11.1)

Aitreya Aranyaka explains this issue by an interesting parable. Gods once wanted a suitable abode to stay there in. A cow was brought but they refused saying that is not enough There after a horse was brought but they again rejected it. Subsequently a man was brought and they readily welcomed the proposal to stay therein.

पुरुषो वाव सुकृतम्

(Purusha-vav-sukratam) ...... (2.4.2/22)

It is further stated that Fire (Agni) entered his eyes as sight. Quarters (disha) entered his ears as hearing-Plants (oshdhi-vanspatyah) entered his skin and hair-Moon (chandrama) entered his heart-as mana-Death (Mrityu) entered his navel as (apana) water (Apah) entered his penis as semen.

Chandyoga Upnishad puts it in another form-

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसो पामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो।

(Prithvi rasah Prithivya Apo raso pamoshdye rasa Aushdhinam purushe) - 1.1 2.

Earth, in the essence of element waters are essence of earth, plants are essence of waters and men are the essence of plants meaning thereby that the man is the most valuable of all creatures. This greatness of man does not lie due to its beautific form but of the greatest measure of intellegence possessed by him. He can distinguish between good and bad, right and wrong, real and unreal. He has even the faculty to proceed from the mortal state to immortality which is the ultimate end of life vz. Mukta or Moksha which means Salvation, eternal bliss free from the repeated circle of life and death.

स हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो वदति विज्ञातं पश्यति ।
वेदश्चस्तन वेद लोकोलोका मर्त्येनाभृतमीप्सत्येवं संपन्नः ॥

Sahi prajnanena sampannatamo vadati vijnatam veda, Vijnatam veda, Vijnatam pashyati vera svastanam, veda lokalokan, martye namstam ipsati) – Atareya Aranyaka (2.3 2/14).

This very Aranyaka at 2.4.3 (23) says that highest Self turned round to see the created beings and seeing man, the most perfect form he was satisfied स एतमेव पुरुषं ब्रह्मततमम पश्यत्–
(sa atmev purusam Braham tat man pas–hyat)

Vedas go so far as to say that all the things on earth are infact created for the benefit or enjoyment of man.

तुभ्येमाभुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे तुभ्यमषन्ति सिन्धवः ।

Tubhyema Bhuvanac kave mahimnay som tatheray tubhyam rshanti sindhwah. (Rig. 9.62.27)

O, Jiwa (man) due to your greatness, all these Bhuvanas and lokas are staying for your sake, Rivers, seas all, all other flowring matters are running for your sake. The world is for you. Again it is stated that Man from heaven down to earth including medicines, waters and forests are all for thy sake. Yet another place Vedas describe the man as "prithviputra" son of the earth which suckles him as its child. This man belongs to the entire world and he adores her. He does not belong to any particular region. He is a member of this great emprire of the vast humanity

सा नो भूमीव सृजतां माता पुत्राय मे पयः

(Sa no bhumirva sgritam mata Putraya me payah)

तस्ये हिरण्यवक्षत्रे पृथिव्या अकरं नमः–

(Tasyai hiranya-va–ksasay prithivya Akram namah (Atherv Veda-12.1. :12 26)

It makes no difference if the man choose to reside in a particular region either in east or west or migrates from Africa to Americe. However to get going in the vast empire men do need some type of society which should consist of different professions and vocations. Vedas divide men into four catagories viz. Brahmana, Kashtriya, Vaishya and Shudras. These catagories (varnas) are based on functional and vocational criteria and not on territorial or tribal basis All these catagories are inter dependant and inter related as mouth, arms, thighs and feet are inter related and interdependant on each other. This subject has been very beautifully desenbed in veda as under :

The Brahman was His mouth and Rajanya (Kashtri) was His arms the Vishya was His thighs and Sudra His feet.

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्य: कृत: ।
उरु तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।

(Yaju. 31.11)

Manu describes this Varnas (divisions) in an other nice way.

लोकाना तु विवृद्ध यर्थं मुख वहु रुपादत: :

ब्रह्मणां क्षत्रिय वैश्य शूद्रन्च निरवर्त्तयत् ।।

(Lokan tu vivridhyarth Mukh Bahu rupadtah brahman Kashatriya, Vaishya Shudranch nirvrtyat)

(Manu 1.31)

God for the expansion of the earth and other matters created through his month, arms, thigh and feet the above four said Varnas respectively. It, however, does not mean that any stigma or bitterness is allowed to any class by the above division. The lower portion of the body viz. the feet and thighs are the base on which the whole social structure is based. They sustain and maintain the upper portion. Atharv-veda fortifies this fact thus :

श्रोणी यदूरु क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढ बभूव

(Shroni Yaduru ka tajjan yabhyara kusindhm sudrid Babhuv)
10.2.3

The upper classes viz Brahmanas and Kashtriyas are dependent and functioning with the assistance of Vaishyas and Shudras.

As already stated the classification is solely based on the vocation or profession one adopts as such a brahman can becam϶ a shudra and shudra can become a brahman if they inter change the.r vocation–See Manusmriti (10.65)

शूद्रा ब्रह्मणता मेति ब्रह्मणश्चेति शुद्रताम् ।

(Shudra Brahmanta meti brahmanshcheti shudratam)

It would thus be clear from the above that the social classification according to Vedic view does not in any way contradict the basic equality and universality of man and woman All people deserve esteem being the off spring of that Supreme reality. This in the positive aspect of the vedic thought.

According to another vedic notion the normal life of a man of 100 years is divided into four stages (ashramas) of twenty five years each. Namely Brahmachaxrya, Grihstha, Vanorastha and Sannyas. In Brahmcharya one is required to observe complete calibacy, to acquire alround khowledge and to make himself or herself fit to adopt some profession to earn livelihood for the next stage. This ashram is the foundation or formation period for the rest of the life.

ब्रह्मघर्यें तपसा राष्ट्रं राजा विरक्षति ।
आचार्यों ब्रह्मचर्य्येंण ब्रह्मचारिण मिच्छते ।।

(Brahmcharyen Tapsa Rashtram Raja virksati Acharya Brahmcharyen Brahmcharin Bhichte.)

By spiritual discipline of Brahmcharya,
the kind protects his state;
By spiritual descipline of Btahmcharya,
the preceptor seeks this pupil;
By spiritual discipline of Brahmacharya,

the maiden gets a youth ful husband

(Atharveda 11.5/17-18)

The next Grihasta Ashrema is for leading a successful married life, acquisition of wealth, for procreation and for full enjoyment in all respect and lastly look after and support persons of other ashramas req-uiring their help.

यद ग्रामो यदरण्ये यत्सभारां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा व्यमिदं तदवयजामहे ।।

(Yedgramo yedarnye yetsbhayam yedindrye Ydensheh Krima vymindm tedvygmhey) Yaju. 3.45.50

In fact this grihstha ashram is the pivot around the whole social structure revolves.

The third stage of Vanprastha – the age of retirement and renunciation. The rigendrate house holder, either Brahman, Kshatriya or Viashya, who completed his studentship, who has faithfully discharged the duties of family life, being staunds in faith and master of his senses should retire and live in a forest or away from the haunts of the cities. He is required to import education to others and side by side do meditation.

(Manu. VI. 8.28)

The fourth and the final stage is Sannyasa:

वनेषु च विहत्येवं तृतीत भागमायुष: चतुर्थमायुषो भागत्यक्त्वा सङ्गन् परिव्राजेत्।

(Veneshuch vihrtyevm tritiya bhamayushah chturthtehayesho shatyktva sangn parivrajet) (Manu VI. 2:)

Sannyasi is acquired to resign to the will of God, should introspect and seek eternal happiness of salvation without which the suffering, of which all flesh is heir, cannot be avoided.

The above narrated four divisions of life are, in fact, for the purpose of attaining the four-fold objects of life namely Dharma, Artha, Kama, and Moksha. All the comprehensible actions of men are covered by these four objects. Dharma (Religion) consists in the maintenance of impartiality. justice, speaking truth and doing virtuous acts, which are the commandments of God. Artha (riches) means acquiring wealth by rightous means and by not expleiting others. Kama (enjoyment of senses) - it consists in employment and fulfilment of the normal human desires through organs and in leading a vertuous and successful married live. Moksha (salvation) is the sfate of emancipation from the endurance of all pains, life of liberties and bliss in the immensity of God.

हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकमणा
धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः ।

He Eeshvara day nidhe bhavatkripaya annen japo-pasanaa Sadhyah siddhir bhavenah

O Ishwar ! May we, by the grace, soon active rightousness, Good riches, good desires and salvation by reverning and adoring thee.

To sum-up and to recapitulate the Vedic view of life the following points are dotted below.

1) To acquire knowledge and to dissipate it.
2) To do justice, to love all creatures and to live in peace and harmony.
3) To adopt dynamic realism.
4) To promote universal fraternity. The concept of One Man-One world and One God.
5) To fight against the justice, nescience and all itls innate devil in man.
6) Ultimately to obtain salvation (Moksha) or union with God.

डॉ० जगत् प्रकाश आत्रेय, मन्त्री अखिल भारतीय दर्शन परिषद् अपनी वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत कर रहे हैं।

Human Values and social Relationship

By Dr. R. P. Srivastav
Bihar University

Autonomous ethrcs arise from inside oneself, for the individual himself has been in on the decision making regarding what constitutes moral/immoral action. We can contrast these two form of ethics. The first is behaviour that conforms to given codes and social customs; the second is autonomous-ethical behaviour which is inner-motivated and grounded in genuine moral interest in the well-being of others.

Jean-Paul Sartre has stated his conviction, based on his belief in human freedom, that *all* ethical decisions are autonomous, that in the final analysis there are no authoritarian ethics. Sartre says that although we may adhere to given customs and codes - from parents, society, religion etc. - when making ethical decisions each of us still decides which codes we will use in resolving our problems. So according to him, ultimately we can never escape personal responsibility for the ethical decision that *we* make; and we are likewise responsible for the moral/immoral actions which *we* perform.

Sartre's position is a sort of half-truth. He is surely correct when speaking of persons who, to use his phrase 'have become conscious' - that is, those who have become aware of alternatives. The ethically informed individual *knows* that there are many criteria for making decisions; knowing this, his decisions rest upon his own shoulders, and he must assume responsibility for them. But for the

majority of us, such options don't exist. We are convinced that there is but a single set of rights-and-wrongs: how could it be othetwise? If one believes with all his heart that the decision of right or wrong has been settled finally, and that this settlement is embodied in a single set of customs or codes, then he cannot justly be held responsible for *not* making ethical decisions based on other codes which might have been superior decisions.

The second question we must answer is: what criteria should I use in makiog a relevant and meaningful ethical decision? Three different answers to this question come from (i) the formalist, (ii) the relativist, and (iii) the contextualist.

The formalist believes that the criteria to be used in making ethicai decisions are universal laws which apply to all men. Man's responsibility is to be informed on these rules ahead of time – that is, before we find ourselves caught up in life's ethical complexitiss. By analogy, one should know the laws in the state motor-vehicle code before he gets behind the wheel and takes to the street. Likewise we should be taught the laws of the moral life before taking to the highwavs. Our personal task, in both the cases, is to be thoroughly acquainted with the rules so that we can apply them to concrete situations as we come to them.

Kant concluded that universal moral laws do exist, but that they are to be found within the structure of the human mind. Kand says, "ethical rules must not be sought in human nature or in the circumstances of the world......but apriori simply in the concepts of reason"[3] He formulated his famous 'categorical imperative' to be such an apriori rule. A more recent attempt to develop a system of

3. Kant, Immanuel, *Critique of Practical Reason,* trans. by Lewise White Beck, 1956.
4. See Muelder, Walter G., *Moral Law in Christian Ethics,* John Knox, 1966.

universal formal laws was undertaken by the American philosopher Edgar Brightman.[4] He mentions various laws, e. g., the Law of Autonomy, the Law of Consequences and the Law of Altruism. These are normative laws; they state what we ought to do. Because of their logical and axiomatic nature, they are meant to apply universally to all ethical decisions made by man.

Relativists hold that one can make meaningful ethical decisions only in the social context in which an ethicla problem occurs. In other words what is right in one place dr time may be wrong in another place or time. The Greek Sophist Protagoras was one of the first philosophers to observe in his travels that different societies do in fact have different customs which are morally binding upon their respective inhabitants. Notions of right and wrong are therefor relative to a particular society, and they differ from one society to anothe. Infanticide may have been right in Caesar's time, but is not in the twentieth-century Rome. Polygamy may be right in Cairo but not in Tel Aviv. Ethical relativism may mean something else: that what is right for one person may be wrong for another. This, again, is merely the recognition of the fact that different people have different convictions and follow different customs.

The contextualist discards both formalism as well as ethical relativism. He does not believe that universal moral laws exist. There are no rules that one can memorize ahead of time and apply meaningfully to a particular situation. The contextualist agrees with the relativist in holding that societies possess different customs and codes and that these perform the pragmatic function. But the fact that a practice exist does not make it moral. What societies actually do, therefore, is no guideline for deciding what is ethically right. According to the contextualist relevant critria for making a meaningful ethical decision can be found only within the context of each concrete ethical problem Every ethical situation is in fact unique, and a truly ethical solution to a problem can be arrived at only when all the factors of the unique situation can be weighed by those involved in

the problem. Each person makes the best decision he can using the best knowledge he possesses at that time of decision. Such a meaningful ethical judgment can be made only after, the problem situation exists, not before; Such ideas as 'don't kill', ' 'on't steal' etc. can be used as guidelines, but they must be abandoned if the specific situation calls for it. Now, what should be the criteria for determining what the specific situation demands ? For this one single quiddline is to be used and that is one's concern for the well-being of others. This principle can be developed In several ways. Joseph Fletcher[5] formulates it in terms of *agape,* the 'ethical leve' or 'empathetic concern' which is the foundation of Christian ethics. Fletcher submits that only love is good, and rules are made to serve love not the other way around. When one is truly involved in the well-beiug of another, he may be called upon to kill, to tell lies, or more in order to carry through in authentic action his loving concern for that other person. Just as Thoreau could say of civil law that if it "requires you to be agent of injustice to another" then 'break the law', the contextualist would say that if so-called moral laws require you to act unlovingly toward others, then break the 'moral laws'. Contextualism can also be formulated in pragmatic terms. It is only our ethical concern for the well-being of others that produces a positive environment in which all of us can more fully actualize our lives.

To summarize, the contextualist holds the following: (a) There are no universal moral laws; (b) ethical decisions can be made only in the context of concrete situations and there is a fundamental ethical quideline for all ethical behaviour – one's authentic concern for the well-being of others.

Contextualism has significant implications.[6] It recognizes accurately the nature of our moral predicaments. Our most agonizing ethical decisions must be made in situations where only *bad* alternatives are open to us. If daily life always set up situations so that we

5. Fletcher, Joseph. *Situation Ethics,* Westminster 1966 ; See also his *Moral Responsibili y,* Westminster, 1967.

had to choose between a good option and a bad option, then moral existence would be simple. But actual life-situations continually force us into predicaments in which only various degrees of bad-consequence alternatives are open to choice. We have to kill in order to save oneself; we have to lie, to pretend, to play games in order to protect someone from serious damage. Contextual ethics says that if but of one's concern for the well-being of others, he makes the *best decision* he possibly can, then he is unequivocally moral It one must tell lies to save another, he has acted morally; not to have lied-to have allowed irreparable harm to come to another person - would have been immoral. Since this is the way that life forces us to make decisions, there is no justification for holding a person morally guilty if he has made the best decision possible in any given predicament

By contrast, formalism and most forms of relativism have admitted that we often have to take bad action in a situation because good alternatives dod't exist, but they also contend that this does not makc the bad action right. *Having to do what is wrong does not make it right,* And having done wrong, we should feel guilt, and we may justly be subject to moral or civil recriminations . Contextualism responds that such a person is morally innocent and is, in fact, morally commendable. Having chosen the best option available, why should a person be considered immoral ?

Now let us come to the third question, that is, to whom (or what do may moral obligations apply ? we must ask ourselves how large wa are obligated io draw our cirble of ethical concern. should our ethical actions apply only to ourselves and to our primary groups such as family, clan or sect ? or do they extend to all the members of our tribe, nationi, religion or race ? Do they extend to nll human beings ? to all higher forms of iife ? ro all organisms that aharthe impulse- to-life ?

Historically, men have rather universally applied their codes of ethics only to their in-groups. since canditions on 'spaceship earth' are rapidly changing, this question needs continual reexploration.

Although in-group consciousness continues and will continue, in countless forms, we need to ask whether in a shrinking world, one's circle of obligations must be extended for purely pragmatic reasons. In the world of eighties traditional in-groups are being broken down and their constituents constantly rearranged.

Increasing number of people are thinking of the whole human species as a single in-group. The Indian slogan of *Vasudhaiva Kutumbakam* is as old as Vedas. The Stoics taught that all men are subject to the same natural and moral laws and that they should therefore be subject to the same civil laws. All men should belong to a *cosmopolis* – a 'world city' – and should not be artificially broken uo into tribes and states with different laws. Although there is no obvious antagonist, the unity of human species is not yet a world-fact though sought by some and intuited by many more.

It is undoubtedly a lofty idea of extending our ethical obligations further to all animal life or to all of nature. In practice the least we are expected for the present to do is to extend our ethical obligations to our fellow human beings as such. guote Albert Schweitzer here, "Ethical affirmation of life is the intellectual act by which man ceases simply to live at random and begins to concern himself reverently with his own life, so that he may realize its true value. And the first step in the evolution of ethics is a sense of solidarity with other human beings"[7]

III

We have discussed the questions concerning ethical probleme. On the basis of the discussions the following conclusions can be arrived at;

(i) The individual himself has been on the decision making regarding what constitutes moral/immoral action. Once we become aware that there are many critria for making

---

7. Schweitzer, Albert, *The Teaching of Reverence for Life*, Holt, 1962, P. 12.

ethical decisions, then the full responsibility for our own decisions rests squarely and heavily upon our shoulders.

(ii) There are no universal moral laws; ethical decisions can be made only in the context of a concrete situation. The fundamental ethical guideline for all ethical behaviour is one's authentic concern for the well-being of others.

(iii) Man's moral obligations should not be confined to his in-group alone. Man belongs to man. His moral obligations must be extended to all his fellow human beings; better if it is extended to all nature.

Department of Philosophy

Dr. G. S. Bist

G. K. University, Hardwar

SCIENCE AND RELIGION

It is usually accepted that science deals with the appearances of things. In other words, science aims at a mest economical description of appearances i. e. ultimately of our sense experience.

According to some scientists, science can be looked upon from different points of view. Such as A Science as an exact science B. Science as a descriptive science C. Science as a product D. Science as a process and so on.

Physics and Chemistry are stated as the exact sciences, because these two are characterized by the possibility of exact measurements and mathematical analysis.

Taxonomical Botany and Zoology have been stated as descriptive sciences.

As a product, science is an orcanized systematized body of knowledge about the physical world. It is the record of, what has been discovered about order in the universe; the relationship of matter and energy. It is the study of cause and effect beginning with observation and leading to gneralizations, theories and eventually laws.

As a process, science is exploring, searching, discovering and experimenting the vast variety of thought processes for acquiring knowledge.

According to some of the modern physicists, science has revealed the external nature of things in the world. It means science gives us the knowledge of *not self*, It is the study of objective field. These scientists call the universe as' Mysterious Universe'. In their opinior, they are yet far away from the heart of the Universe. *Sir James Jean*, a great scientist, for example, has stated that the physical sciences are trying to manupulate A, B, C without knowing what actually they are. It means though physical sciences are working for the betterment of *Man* they do not know what a Man actually ia. In other words these scientists forcet that man is merely an actor in this drama of the world. An actor who is even unaware of the time, he is suppose to finish his role,

The dazzlinc progress in physical sciences has made the scientists forget about the internal nature of things i. e. the *self* aspect This is the reason why these scientists do not even hesitate in holding the view that knowleage oained by the physical sciences in the only knowledge and that any knowledge outside the field of of physical science is not capable of being called scientific.

To my mind, every systematic knowledge can be called scientifi :. Not only this, all activity of mind has to be scientific if it is to lead to some authentic knowledge. Thus the systematic knowledge outside the field of physical sciences or the systamatic knowledge beyond the reach of the physical sciences is also scientific.

My intention here, is to say that relicious knowledge which is systematic and organised in character is also scientific, it is a systematic knowledge of the universe revealed not by senses but by the *spirit*. It is mainly and essentially concerned with the un-observable universe and the *self* aspect of man. The true subject of religion therefore is *'man'*, the unknown. It is rooted on the very rational nature and constitution of mind.

If we concentrate outselves on human rationality, we find that this rationality is of two tyoes, viz. relicious rationality and scientific

rationality. The reiigious statements are therefore knowledge statements. These statements can not be stated to be emotive only. Those who held that relicious statements are only emotive, do not understand properly the difference in the objectivity of the religion and science. The object of religious beleif does not stand on the same footing as the physical facts of our ordinary experience. The objectivity of religion and the science is totaly different. Not only that, the objectivity of each and every science ia not the same. For example the objectivity of Botany is different than the objectivity of Physics and so on. It is however, important to note that the objectivity of religion can be known only through marks.
If anyone questions the rationality of religious stafements, he should see the life of a saint. The life of a saint is full of rationality He understands the real meanincs of religious statements which are rational in character, and are capable of being called knowledge statements.

In Indian philosophy we find the mention of two types of knowiedge in the form of *apara-vidya* and *para-vidya*. Both are stated to be scientific in nature Apara-vidya deals with the world of experience and the para-vidya with the *Reality* behind the world of experience. In the opinion of Samkara the *apara-vidya* is avidya which should be remoued, and the *para-vidya* is the supreme knowledge since it deals with the ultimate Reality known as *Self*. This apara-vidya can be gained only through relicion. Thus, the religion is the science of beyond. It deals with the super sensual world with different methods and technicues, systematically.

The test of religion is *'Anubhuti'* (realization). Spiritual practices (*sabhanas*) are the means to this *anubhuti*. This is infortant to note here that this type of raligion can only be learnt through vedas. tics are also capable to teaching religioe through their experiences. These teachers (vedas or Mystics) will speak the same tounge and will teach the same truth. Their *one* and the *similar* experience becomes the law.

The mimamsa system of Indian Philosophy has taken an extreme view of religion (dharma). According to this system the vedas teach only one kind of religion (Bharma) which is expressed through commands or injunctions (Pravrttilaksana dharma). Jamini in his mimamsa sutra defines *dharma* as that which is characterized by *commands.* Sabarswami, in his commentary on the sutras cf Jamini, observes that commands impel men to action. Commands, accordings to this system are only *vidhi–vakyas* (injunctive statements, positive in character), all other vedic sentenees are meant to promote action only.

In this way, religion works systematically for the betterment of whole mankind. No doubt, the practicals involved in religion are much more difficult than the practicals involved in physical sciences, but it's results are unique not only tremendous.

What follows from the above exposition therefore is, science and religion are not contradictory in nature, their goal or the ultimate aim being one the betterment of man. No problem, if science work for the better life in this world and religion takes care of (man as a whole) both the aspects of man *self* and the *notself.* Thus, if philosophers would take the trouble of providing more attention to this problem, they would definitely gain in insight and come nearer to an understanding of the relation between so tremendous and impartant concepts, *science* and *religion.* There seems to be no reason for observing any contradiction or opposition between science and religion.

The synthesis of both science and religion is must for the betterment of man. Science alone is not enough, nor is relicion sufficient by itself. If science is taden out from the society there remains a sheer primitivism and if relicion is taken away from the society what remains is simple barbarism Where science can create a healthy external environment for man. relicion can createsa healthy internal environment for him. Thus man can hope to achieve his total fulfilment.

REFERENCES

1. Scientific American Vol. 213.
2. Slokvartika-Translated by G. N. Jha.
3. Teachings of Swami Vivekananda
4. Arthasamgrah
5. Encyclopedia of Philosophy of Religion Vol. IV.
6. Mimamsa-Sutra (JAMINI) i. 1, 2.)
7. Commentary on Sutras-Saharswani
8. Commentary on Bhacwatgita-Samkar
9. The Hindustan Times, dated 23.1.85 p. 9

A Flash of Self Realization

Dr. B. N. Pandit

Saveral systens of *sadhana* (spinitnal djscipiine) have been recdgnigad in Kashmir Saivisn as paths leading ro self realizatin. The Trika and Kaula systens were populsrly prevalent among the ancient teachens of Kashmir Saivism. Authans live Abhinavagupta, Somananda and Bhatta Kallata were masters of both trika and kula system. The latest impartant Kashmirian master of kaulism was Sanib kaula Anandanatha who lived in the time of shahejahan and Aurangazeb. His is a clear case of yoginiditesa, an informal rite of imtiation by same superior female deity resulting in a spontaneous revelation of the self in its purest and dwme aspect.

When Sahile Kaula was just a boy he was blessed by the love by a sudden and spontameous flash of the direct realization of his absolute godhead through yoginidiksa. Having thus realized suddenly his abrolutely divine nature of godhead he tumed at once into a poet of high merit and started to express his divine valization through the medium of a wenderfuily beautiful poetry in Samsleint language. His first verse in such content runs thus:

येनोत्कोर्णं विवचित्रं स्वभिन्तौ
नानावर्णेश्चित्रिं यने भक्त्या ।
भ्रन्ते स्वस्मिन् नृत्यते येन हृत्वा
सोऽहं साहिब्कौल का रामसम्भुः ॥१॥

I, Sahite Kaula, alias Sahite rama, am that blissful Sambhu (lord siva the absolute God) who inseribed the figure of the whole universe on the wall of his own self. who made it wonderful by means of various hues with a devout attention; and who fmally perfornes the Tandava dance after abnorbing it into his own self.

Recollecting his prevurs position of a being living in a physical form he spoke thus:

कः स्विद्देहः कस्य देहः क्व देहो
देही देहेनैव बद्धो न बद्धः ।
सोऽहं हाम्भुर्विष्णुरर्को गणेहो
धाता शक्तिः सर्वशक्तिर्नमो मे ॥२॥

What is a body, where does it stand and to whom does it belong (when even a gross body also is the Himself) ? A soul, being found by a body, is not vally bound, (because there is no body but the love Himself appearing lkie that) As for megam myself sambhu, Visnu, Sungod, Ganesa, Brahma, Sakti and (even) Almighty God Himsel. Set all prostations be therefore to me.

Depicting his present out look on the functions of his psycho-physical set up he spoke thus:

नाहं जाने नैव कुर्वे न वेच्छा
म्याविभावं चेत्यचेत्य न यामि ।
जाने कुर्वे स्वेच्छया स्वं पर स्व
भावं भाव भावभावो नमो मे ॥३॥

I neither know nor do nor desire anything (other than me) do I appear as an object of any (senses which are themselves) objects. But, by virtue of my own independent will, I know and do my own self and know and do everything other than me, as my own self. Prostrations to my self, the very existence of each existent entity.

Declaring the all-pervasive absolute consciousness as his real nature he uttered thus:

---

१. देहो न देहः आदि तुशिव टग खंतिधेना सत्येन देहेन बुद्धः सन् वस्तुओं मैव बद्धः ।
२. चेत्यैः प्रमेयभूतैः करनैश्चेत्यः सन्नाविर्भवि न या म ।

जाग्रत्यां वा स्वप्रजायां
सौषुप्त्यां वा या चिदाभाति तुर्या ।
तामप्येतां तिष्ठतेऽस्मा अतीत्य
सर्वस्मै मे सर्वभासे नमोऽस्तु ॥[4]

I (as the transcendental reality) stand beyond even that pure consciousness of the fourth state (of revelation) which continues to shine in the three states of wating, dreaming and sleeping. Prostrations to myself who is everything and through whose lustre everything shines.

Sahile Kaula, being as yet a boy of eight years old and not having undergone any hardening practies of Hathayoga, did not then possess a sufficiently strong nervous systens capable to contain and bear the great flood of divinely powerful spinitual force being suddenly experienced by him in such suddenly aroused flash of self-realization. He felt his physical body as failing to bear it and cous quently callapsing under its heave pressure. His reaction to the apprehension of the so called death urged him to utter the fifth verse:

मृत्युर्मृत्युर्मृत्तुभाजां न मृत्यु-
र्मृत्युज्ञानां नैव जाता यतस्ते ।
सोऽहं मृत्युं चाप्यमृत्युं व्यतीत्य
भासे भासो मृत्युमृत्युनभो मे ॥[5]

Death is death for only such people who believe to be unddrgoing it.

oXoXo

Needs And Ways of National & Internatiocal Understanding

Dr. Veeraindra Arora
Registrer. G. K. University

At the very outset I would like to congratulate the organisers of the seminar for choosing the topic concerning with the worlds's Problems and Edncation.

National integrity has been in danger in the recent past. Separatist forces in our country seemed to be emerging. Every other day the news of their activities poured in. It compelled the countrymen to take it sereously and to think of its reasons. Political leaders assigned it to the reasons falling in their defence and benefit Religious leaders too assigned it to their own defence and benefit. Common man assigned it do the failure of the government policies or sometimes to the leniency of the law enforcing agencies. But how many of the countrymen assigned it to the defects in our education system. Perhaps very few. After all why we are lacking in national understanding ? Why we do not feel it a proud to be called as an 'Indian', The answer lies in our own ways and patterns. It is our education system which needs a reform no doubt but it is in fict the child Education which needs a redical charge. A curriculaum and system leading to the national understanding is to be introduced. From the present I first-nation, afterwards' thinking of an average Indian, 'Nation first - I afterwards' spirit is to be inserted, nay, PRODUCED.

From the very begining the child shiid should be made to know about the National Flag, its, significance, importance and volues.
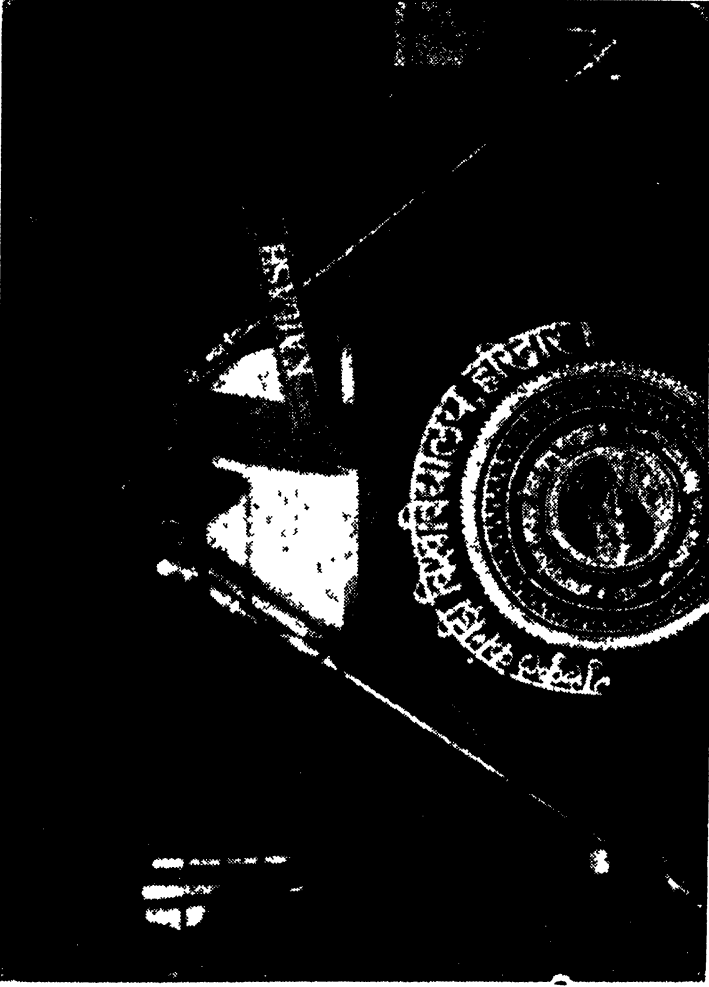
डॉ० जयदेव वेदालंकार, निदेशक कान्फ्रेंस प्रतिनिधिगण का धन्यवाद करते हुए ।

Simply a poem or two won't serve the purpose. It should be in the from of text The meaning of 'Nation' is to be tol ' to him in very simple words, A sense of belonging to the nation is to be developed into him (or her), Names of the persons like Ashoka, Akber, Mahavira, Buddna, Cutunanak and Gandhi are to betold at an earlier stage. The description of National Emblem in standard Ist (which is now a days generally the thrid year of schooling) would bring in the name of Buddha and Ashoka automatically. The idea of secularism may have any ovemnle of Akbar in it. I deas of Mahavira and Gurunanak are to be incorporated in the same standard of elass. A brief story of freedom struggle narrated in an interestIng manner would surely lead to the name of Gandhi in it

Instend of introducing the general science at such a low class as I or II, the child be exposed to the sacrifices of Ranapratap, Lakshmibai, Shivaji and again and again the name of the country 'India' be repeated and onlv a passing reference to their region be given. This will make the child feel that he celonga to India as a whole; his region is of secondary importance. Moral science is to be introduced at this stage.

High class institutions for prlmary education should be made available to all so thát no one is compelled to send his chi'd to the schools rum by missionaries and common curricula be made compulsory for each and every primary school irrespective of its medium of instructions.

Knowledge of national monuments includinge the important temples, morques and churehes be given at an early stage. Regionwise studies be avoided at the early stages though they make the studiss easy. When we teach an immature child separately about UP, Panjab Maharashtra or Kerala he immediately locates his own reg'on and feels a sense of belonging to that particular, Therefore, such regional studies be deffered by two or three years in curricula, I may clarify my point by c ting an example. Suppose a programme of

Punjabi folk dance is being telecast at the Doordarshan. Then instead of giving the title 'Punjabi folk dance' it should be titied as 'Prominent folk' dances of India' and then a brief reference be made about it belonging to the punjab region This will not spoil the competitive spirit and altogether will maintain the national chracter.

Sports and toursm be encouraged and intoduced as compulsory in the curricula of school/college. Sports and tourism help much in deve oping the national understanding.

As far as the promotion of International understanding is concened, again education may play a vital role. The role and importance of international organizations like UNO, UNESCO and even N M and commonwealth Organization should be taught briefly at high school level.

Seminars, conference and worksh as be time to time organised and students' participe be made compblsory. Students from college/ university be asked to organise such seminars and symposiums with themes related to national/international understanding.

Programmes like Group Study Exchange Programme of Rotary International be encouraged. They extremely help in developing the Intenational understanding I, myself have been a member of such a team and visited USA. In this programme, the members of the team compulsorily stay with the host country fami ies and lot of opportunities are provided for interactions. Views are exchanged freely. Opportnnity is obtained to convey the rich heritage of one's own country. I tell you the foreigners, and westerners in particular, are so much less informed about India that we can not even think of. An average American does not even know that we manufacture our own cars, the computers are far from thinking. When one of my team mates addressed a class of school children there during our visit, a child asked how we manoge cur drinking water. His knowledge was that India does not have the water for drinking. So much poorly

informed they are about our country. Festivals of India, being orgenised in different countries, are playing some role in this direction but an educational programme of the sort of Group Study Exchange is surely the better way. Therefore. such progtammes be encouragec from the side of government and their findings and suggestions be entertained and taken sere usly I, my self, got printed the report[1] of my visit and sent the/copies of it to different concerned government agencies. But, as expected, there was no response.

Vedic Philosophy

Dr. J.D. Vedalankar

Maharshi Dayananda, while establishing that the vedas are the fountain head of knowledge concerning God, Sould and Matter, also propounded that they contain material regarding Mathematics, Physical Science, Sociology, Ethics, Medicine etc.

It may be that the modern vedic scholars have not so far on the bosis of his findings, been able to do any further research work yet it is abundantly clear that, thirty years before the advent of the first aeroplane Swami Dayananda, on the basis of vedic hymns had narrated in his book "Rigvedadi Bhashya Bhumika", that the vedas contained reference to the manufacture of such planes (Vayu Yan). At that time no European scientist had even dreamt of it. Yogi Aurobindo goes to the extent of saying that the vedas contain such scientific truths which are yet unknown to the modern scientists.

Swami Dayananda's deep study of vedic literature has strengthened the belief the vedas contain the earliest revelations of Rishis (seers) in a very brief from. These findings have, therefore, helped us to wipe out the misconception of some mediaeval scholars, thaf Upanishadas are a reaction against the vedic thouhts. This belief has been falsified. Rather on the contrary it has been found that the vedas are in fact the real source of the Upanishadas.

Swami Dayananda has propounded that philosophy of the vedas is realistic and is named as the doctrine of Trinty. According to it God, Soul and Matter are three eternal identities. Just as the Upanishadas teach us that the God is one and one

alone so do the vedas. They empeatically say that God Almighty is the only object of worship. He (God or Brahma) is known by various nemes. He can have innumerable names accoroing to his varioos qualities but this does not in any way prove the theory of polytheism. Rather on the contrary it proves God's varied powers. In chapter 32nd of the Yejurveda and in 4th chapter of Shvetashvtar Upanishada it is laid down more clearly that God is known by various names viz., fire, sun. air, moon etc[1]. So also in the Rigveda it is stated that He is Indra, Varuna, matrishwan and the learned invoke Him by variou names[2]. We should know that God is only one with whom all the Devas (godheads) are identified From the ibid verses of the Rigveda and Svetashvtar it is abundantly clear that God is one and one alone[3].

Upanishadas admit the supremacy of the Vedas:-

All the Upsnishadas believe in the final authority of the vedas they do no decry or disparage it while establishing the oneness of imperishable God. Kathopanishada also admist that vedas preach for His attainment. The Brahman Granthas (Brahmanic literature) also instruct to achieve God by reading the vedas. Mandukyopanishada mentions that God's mouth is fire, sun and moon his eyes, the wide space or directions his ears and the vedas are his voice[4]. Rig, Sam and Yajur speak of His widely published knowledge. So the main Upanishadas categorically believe in the authority of the vedas[5]. Ishopanishada is almost a verbatim copy of the fortieth chapter of the Yajurveda, barring a few hymns. In fact these Upanishadas are the very essence of the vedas. The vedas are nectar and Upanishadas their extracted juice. Some regarding this fact have already been quoted in the foregoing paras and some othere shall be quoted at their relative places. As already stated vedic realism/rationalism means Trinity (God,Soul, matter) and things evolved out of it[6].

Having established that the Upanishadic thought is in no way contrary to the vedas rather they admit their supremacy, we now proceed to prove that this Trinity (God, Soul and matter) is identically contained in the vedas and the Upanishadas.

Monotheism of the Vedas

Upanishadas prove the Oneness of God. Acharya Shanker goes so far as to say that God alone is the Sole. Truth and everything elso is delusion. He is the primal as well as material cause of the universe. But if the vedas are to be considered as the source of the Upanishadas this contention falls because the vedas while establishing Monotheism vouchsafe the existence of Soul and Matter as the Iwo additional eternal identities. Similarly on the basis of the vedic hymns, the Upanishadas admit the theory of Trinity. The only difference is that the vedas are like a vast ocean, the fountain head of all known by humanity. They deal everything in too brief a form whereas the Upanishadas deal with one subject matter viz, knowledge portion and they dilute on this portion only.

We shall deal with the contents of the Upanishadas at a later stage. Here we shall merely mention those matters which are common with the vedas relatieg to God.

Just as the Upanishadas establish Monotheism so do the vedas, as would be observed by the following:-

In this universe all objects whether unanimate or animate are enveloped by God[7].

He, who is the controller of the universe, the sole master of the heavenly bodies, the ruler of this earth and the Great Lord of lords, is called by the name Brahma in various hymns of the vedas[8].

He who realize God (Brahma) can realize all the planets because he becomes one with God who is minutest of the minute[9].

Those who are learned in vedic lore pray and express warm appreciation to that one Brahma (God)[10].

We invoke for our protection that Lord, who is the Sole master of all inanimate and animate, alos guides our inteilect[11].

That Lord is called by the learned by various names viz fire, air, moon, Yama, Matrishwan etc[1].

While describing God the vedas say that He is formless (without any body), is purest of the pure, is without a nervous system is faultless and is self born.

Some Indian scholars under the influence of western thought and philosophy deny that the vedas deal with God. They believe that the concept of God came later during the developmen a reference to God exists in the last portion of the Rigveda[13].

But I consider this conception as utterly untenable because the vedas, in main, deal with the attainment of God. All the vedas establish the existence of Brahman openly or tacitly. Kathopanishada states that all the vedas sing His (God's) songs He is called OM. Not only that even the vedantic philosophy accepts that the vedas sing the songs of God. In fact God mentioned in the vedas is not such a God from whom any other body is powerful. He is all powerfull and the deity of the deities. He is omnipotent and omnipresent With all these facts it is hardly conceivable that the western scholars say that monotheism came from Drawida people. This is not supported by any argument. Accordieg to Dayananda, in the vedas neither there is Polytheism nor Kathenotheism. According to the interpretation of Dayananda the word "Devta" mentioned in these scriptures, means the one woh always gives and does not take, who sheds light or knowledge or who obeys his parents. This interpretation he bases on the authority of Nirukta. According to him the word Devta does not connote God. Thus it is clear that in the vedas there is only one God (Brahma) who is to be invoked or adorned and none else.

Position of the universee during Dissolution

Before this universe came into being what was its position and in what shape it existed ? Who brought it into being ? All these questions have been a y answered in the vedas In the "Nasadiya

Sukta" this subject has been dealt with in a beautiful shilosophical manner. Even western scholar of the prominence Mr. Max Muller, who accepts the theory that the vedas have come down to us through great Rishis, accepts that this "Nasadiya Sukta" was revealed to Rishis by God Here under we deal with some of the hymns contained therein.

During dissolution (प्रल्यावस्था) of universe, there was neither (सत्) Being nor (असत्) Non-Being. The vacant space (अन्तरिक्ष) was not full of atoms. What was prevailing there ? On whose support it all then existed ? Was there any exceptionally powerful force?[14]

At that time there was neither life nor death There was neither day nor night. God alone was thete with his own natural power, alongwith matter in its latent state[15].

At that time the latent Molter was all covered with darkness. It was iike water all in one, in an unknown state. By Lord's will power the latent matter began to become patent[16].

The rays of these three were running slantingly. All above and below, there was something indescribale and wonderful, they were containing potent force. On the other side Soul had the capacity to accept and was in full force[17].

In reality who knows, who can fell wherefrom this life came and how this universe with different varietles came ihto being. The sun and other illuminating objects came later. Now how can one know in what manner the universe was created[18].

He, who has created this universe with all its diversities, is

without any doubt, holding it. If he were not doing so, there would be all chaos. He is all prevailing and is controlling. O!. Friend Know Him, if you will not know Him it would be the greatest loss[19].